पाठकों की सेवामें यह छोटीसी पुस्तक अर्पित की जाती है। इस में कोई गुण नहीं, पर जब तक उन्हें वर्तमान समय के उपयुक्त कोई अन्य बड़ा ग्रंथ न मिले तब तक इसे अपनावें। इस पुस्तक के प्रकाशन में बहुत विघ्न उपस्थित हुये हैं। कागज की दुर्लभता इन में सबसे अग्रगण्य है। इसी से पुस्तक भर में २।३ प्रकार का कागज आप को दृष्टिगोचर होगा। प्रेस की असावधानी से कुछ अशुद्धियाँ भी रह गई हैं। पाठक कृपया उन्हें सुधारलें। अगले संस्करण में इनके सुधार देनेका यत्न किया जायगा।

इसमें कहीं कहीं अंग्रेजी माप का भी जिक्र आया है। जैसे--सेंटिग्रेड या फारेनहीट। ये दोनों ही भिन्न हैं। इन से अलग अलग गरमी नापी जाती है। इनकी नपाई में भी अंतर है। १ दर्जा सटीग्रेड ९ बटा ५ फारेनहीट के बराबर होता है।

अधिक श्रावण कृष्ण १२
सम्वत् १९७७ वि०

विनीत--
प्रकाशक

कौमारभृत्य

की

विषय-सूची ।

सद्योजात रोग–

संक्रामक रोग–

असंक्रामक रोग–

BHARATIYA VIDYA BHAVAN
S N .
LIBRARY

शुद्धिपत्रम्

अशुद्ध	पृष्ठ-पंक्ति	[illegible]
(वाग्री दिया)	१—८	(कौमारभृत्य)
दबाव	४—२	दबाव
६४ सेंन्ग्रिड	८—८	३४ सेंटिग्रेड
नाल क	९—१०	नाल का
छुट	१५—२	छूट
यह	१६—१०	यह
धाय का	२१—१	धाय को
चिये	२३—१३	लिये
जसे	२४—१३	जैसा
पेट	२७—१६	पेट
बालक को	३१—१८	बालक के लिये
चलते भी	३४—११	चलते हुये भी
प्रायी	३५—१२	प्राय.
पचास	३८—१३	पचासी
स्वाध्य	३७—१८-१९	स्वास्थ्य
स्वाध्य	४०—१०-१३	स्वास्थ्य
यह	४०—१८	यह
स्वाध्य	४३—१३	स्वास्थ्य
अजु बाजू	४८—५	आजू बाजू
दबकर	५७—१७	दबकर
अजनबी	५९—६	अजनबी
हृत्पिण्ड	६०—१२	हृत्पिण्ड
–में हाता	६३—५	–में विशेष होता
कान कन	६३—१	कौन कौन
जैसा	६७—२	वैसा

डिग्री ही	६८—१०	डिग्री फारेनहीट ही
जनन यत्र	६८—११	जनन-यत्र
पहुँचाया	६८—१६	पहुचाया
इस प्रकार	६८—१६	इस समय
होजाने पर	७०—२०	होजाने पर
जीवाणु	७१—१२	जीवाणु
कीटाणु	७४—७	कीटाणु
१००-४	७५—५	१०० ४
भर पेट	७६—१६	भरपेट
उपद्रव	७६—१८	उपद्रव
इस-बात	८१—३	-इस बात
छूत ही कारण	८१—१५	छूत ही के कारण
सृसन	८५—१८	सृजन
विज्ञान-सम्मत	८६—१५	विज्ञान सम्मत
रत्ती एक	८८—६	रत्ती तक
घटता	९१—१८	उतरता
मुखसे	९५—१३	मुख में
श्वाश	९५—१४	श्वास
पट	१०४—२०	पेट
कर देना	१०६—२	करना
स्वय भी	११४—७	स्वय भी
यह कहता	११४—१४	यही कहता
मसूढे	११५—१०	मसूढे
फुप्फुस	१२०—१५	फुप्फुस
विकास	१३३—१८	विकास
पर च कुछ	१४७—६	पर वे कुछ
अनु-	१५२—१०	अनुसार
अभाव	१५२—१४	प्रभाव

कौमारभृत्य ।

आयुर्वेदशिक्षा में कौमारभृत्य बहुत ही अमूल्य और अत्यावश्यक वस्तु है। प्राचीन काल में इस विषय को स्वतन्त्र ही रखकर आयुर्वेद का एक गण्य मान्य अङ्ग समझा गया था। धात्रीविद्या उसी कौमारभृत्य का आरम्भिक अंश है। बालक का जन्म होते ही इस (धात्रीविद्या) का आरम्भ होता है। अतएव सांसारिक जीवन में, आयुर्वेद के अधिकृत चिकित्सा-योग्य पुरुष में आयुर्वेदिक चिकित्सा सम्बन्ध यहीं से आरम्भ होता है।

बालक के भूमिस्थ होने पर-गर्भाशय से निकलने पर धात्री का सबसे पहिला कर्त्तव्य है कि वह बालक के सजीव निर्जीव समझने की चेष्टा करे। सभी बालक गर्भाशय में रहते समय अपने जीवन के मुख्य अंश श्वास-प्रश्वास-क्रिया को मुख से नहीं सम्पादन करते हैं। इस लिये पैदा होते ही बालक का श्वास चलाना या उसे रुलाना धात्री का पहिला कर्त्त-व्य है। धात्री (दाई) को अपनी साफ अँगुली से-जिसका नख

काटकर इतना साफ कर दिया गया हो कि, उससे बालक के गले में जरा भी रगड़ न लगे-मुख का कफ कण्ठ तक साफ कर देना चाहिये। यह कफ चिकना और चिपकने वाले लासे की भाँति का निकलता है। उसके निकलते ही बालक श्वास लेना आरम्भ करता है, अथवा वह रोता है। इस कृत्य से उस बालक के फेफड़ों का सङ्कोच विकास होने लगता और नाभि-नाल के द्वारा श्वास लेना बन्द हो जाता है।

कभी कभी बालक की यह स्वाभाविक श्वासक्रिया सहज में नहीं आरम्भ होती है, अतः उसके लिये अनेक क्रियायें करनी पड़ती है। जैसे—

१—बालक के छाती, पीठ, पैर आदि में अँगुली गड़ोना या चुटकी भरना। सजीव बालक इससे रोने लगता है और उसकी श्वासक्रिया आरम्भ होती है।

२—कभी कभी बालक के मुहपर ठढे पानी के छींटे मारने से वह सुबकी लेने लगता है और इस प्रकार उसका श्वास ठीक आने लगता है।

३—कभी कभी बालक के हाथ, पेर, छाती और पीठ सेंकने पड़ते हैं। इसके लिये दाई को अपने हाथ आगपर सेंक-कर बालक के हाथ पैरों में लगाना चाहिये। इतनाही सेंक पर्याप्त होगा। सेंक करके एक मुलायम कपड़े से बालक

को ढक देना चाहिये। ढकते समय बालक का मुंह खुला रखना चाहिये, जिससे गरमाई आकर उसकी आरम्भ होनेवाली श्वासक्रिया बन्द न हो जाय। सभी श्वास लाने वाली क्रियाओं के करते समय दाई को बालक की नाल नाड़ीपर भी ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि नाल-नाड़ी न चलने से ये सभी क्रिया व्यर्थ होजाती हैं।

४—ऊपर के उपाय निष्फल होने पर बालक के नाल को उस की नाभि से दो इञ्च (या चार अंगुल) की दूरी पर अच्छे साफ मजबूत डोरे से बाँध दे। इसके बाद उतनीही दूरी पर एक और डोरा बांधकर, दोनों डोरों के बीच से एक साफ कैंची से नाल को काट दे। इस समय नाल को बड़ी साव-धानी पकड़े रहना चाहिये, जिसमें यह किसी प्रकार झट का खाकर बालक की नाभि को नुकसान न पहुंचावे। नाल काटने से पीछे बालक के सिर, गर्दन और पीठ के नीचे बायाँ हाथ और कूलों के पास दूसरा हाथ लगाकर नीम गरम पानीके टब में बालक को एक बारगोता लगवा दे। इस रीति से भी कोई कोई बालक रोकर श्वास लेना आरम्भ करतेहैं। यदि इसप्रकार आधी मिनट तक बालक की श्वासक्रिया आरम्भ न हो तो आधी मिनट तक उसे जल में रखकर निकाल लें और मुंह के बल जमीन पर सुलाकर हाथ से जल्दी जल्दी करवटें बदरायें। इस

क्रिया को एक मिनट में १५ वारतक करना होगा। जमीन के दवाव से वालक के फेफड़े और पेटपर दवाव पाकर भी श्वास चलने लगता है। औंधा सुलाने से उस का भीतरी श्वास वाहर और करवट वदलवाने से वाहरी श्वास भीतर जाने लगता है। अथवा—

५—वालक को सीधा सुलाकर उसकी नासिका को वन्द करदे और उसके मुख में दाई अपना मुख लगाकर (रवड़ के फुकने की तरह) थोड़ा श्वास भरदे। फिर मुह हटाकर वालक की छाती पर हाथ की हथेली से थोड़ा सा दवादे जिससे वालक का भीतरी श्वास वाहर निकलने लगे। इस प्रकार जल्दी जल्दी एक मिनटके भीतर १०–१५ वार करना होगा। नासिका को इस प्रकार दवाना चाहिये कि उससे वाहरी श्वास का आना जाना न हो। इस क्रियासे कभी कभी वालक को ठसका लगता है और उससे पीछे धीरे धीरे श्वासक्रिया का आरम्भ होता है।

इस क्रिया का मुख्य अर्थ है श्वास चलाना, वाहरी शुद्ध वायुसे फेफड़ोंकासम्वन्ध स्थापित करना और गल (कण्ठ) शुद्ध करना है। देशी भाषा में इसे कोई गला करना और कोई गला पाडना भी कहते हैं।

दाई को यह वात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि जब तक वालक ऊपर से वाहरी श्वास नहीं लेने लगता है तव तक

वह नाभि-नाल से ही जीवित रहता है। इसकी मुख्य परीक्षा यह है कि इसके नाभि-नाल में नाडी का जैसा धप धप शब्द होता रहता है। इससे जब तक बालक बाहरी श्वास न लेने लगजाय, तब तक उसका नाभि-नाल बाँधना या कैंची छुरी से काटना कदापि उचित नहीं। अथवा नाभि-नाल का धप धप शब्द बन्द हो जाय तब उसे बाँधना और काटना चाहिये।

ऊपर लिखी श्वाससञ्चालक क्रियाओं की सदा सर्वदा नहीं किसी विशेष अवस्था में ही आवश्यकता होती है। परन्तु प्रत्येक दाईको इन क्रियाओंकी अभिज्ञता बनाये रखनी चाहिये। न मालूम कब इनकी आवश्यकता आ पडे। बडे बडे शहरों के निवासियों विलासियों और कोमलाङ्गों के घर पैदा होनेवाले बालकों के लिये ही इन क्रियाओं के करने का मौका आता है, जो घर परिश्रमशील मिताहारी और सदाचारीहैं उनके बालक कण्ठ का कफ दूर करते ही स्वभाव-सिद्ध श्वासक्रिया से सम्पन्न हो जाते हैं। उनके लिये इन अप्राकृत कृत्रिम क्रियाओं की आवश्यकता ही नहीं होती।

बालक की गलशुद्धि के लिये आयुर्वेद के प्राचीनाचार्य सुश्रुत ने कफघ्न दवायें चखाने का आदेश दिया है, पर काल क्रम से वह प्रथा एक बार ही उठ गई है। परन्तु गुण देखते उस प्रथा को उठाना भूल का काम है। सुश्रुत ने इस कार्य के लिये चार प्रयोग लिखे हैं, इन प्रयोगों की औषधें मेधावर्धक,

बलवर्धक, कफनाशक और फुफुस की श्वासक्रिया को ठीक करने वाली हैं। हमारी राय में यदि यह प्रयोग उचित समय पर काम में लायें जायें तो बालकों की अधिक मृत्यु का परिमाण भी कम होजाय। इस स्थान पर हम अपने कई बार काम में लाये हुये सुश्रुत के एक प्रयोग को लिखते हैं। आशाहै, गुण ग्राही सज्जन इसको अवश्य व्यवहार में लावेंगे।

मीठा कूठ ३ मासे	शहद ६ मासे
मीठी बच ३ मासे	घी ३ मासे
सोने के वर्क ६ रत्ती	

कूट और वचको खरल में डालकर खूब बारीक करलो, जिसमें यह काजल जैसे होजाय। फिर घी और शहद मिला कर घोटो। बाद में सोने के बारीक वर्क मिलाकर घोट दो। खूब बारीक घोटने से यह कीट जैसा बन जाताहै। कण्ठ साफ करने के बाद बालक को यही अवलेह शहद के द्वारा और भी पतला करके ४ रत्ती के परिमाण में दिन में एक बार चटादें। यह क्रम जब तक बालक एक मास का न हो बराबर जारी रक्खें। यह दवा एक बार बनाकर सुरक्षित रखने से १ सप्ताह तक काम देती है। यदि कोई विशेष दिन तक रखना चाहें तो कूठ, बच और सोनेके वर्कोंको दो दिनतक खूब बारीक घुटाई करके रख छोड़ें। जब आवश्यकता हो इसे एक रत्ती प्रमाण लेकर दो रत्ती शहद और एक रत्ती घी मिलाकर चटा दियाकरें।

नाल काटनेके बाद दाई का मुख्य कर्तव्य बालक को स्नान कराना है। हमारे यहां दाई अपने पैरों को नङ्गा करके पसार लेती हैं और उन पर बालक को पट (औंधे मुंह) डालकर स्नान कराती हैं। पर यह प्रथा परिवर्त्तित होने योग्य है। स्नान के लिये बालक का मुख ऊपर को रखना और स्नान के जल से उसके मुखको बचाना विशेष आवश्यक है। स्नान के लिये बहुत हलका गरम जल, एक बड़ा कूंडा या टब, टोंटीदार गड़वा साबुन या तेल होना जरूरी है। साथ ही बालक को पोंछने के लिये एक साफ कपड़ा, एक गुल गुली बिछीहुई गद्दी और बालक को लपेटने के लिये फलालैन का टुकड़ा तैयार रहना चाहिये।

जन्म के समय बालक के शरीर पर एक लसीला झिल्ली सा पदार्थ लगा रहता है जो तेल में या वेसलीन में मिलजाता है। इसीकारण बालकके शरीर पर तेल लगाकर स्नान कराना आवश्यक है। डाक्टर इस अवसर पर बालक के शरीर पर साबुन लगाकर बालक को नहलाते हैं। स्नान के समय बालक को बड़े कूंडे या टब के भरे पानी में गले पर्यन्त डुबोकर उसके शरीर पर लगे हुये साबुन या तेल को धो देना चाहिये। यह कार्य टब के बिना भी कर सकते हैं। बालक को टोंटीदार गड़वे से पानी डालकर स्नान करा सकते हैं। टोंटी के पानी की धार बालक पर बहुत ऊंचे से न डालना चाहिये। पर इस

स्नान में समय अधिक लगता है और इस स्नान में अधिक समय लगना उचित भी नहीं है। पानी की गरमाहट के विषय में भी धात्री को विशेष सभाल रखने की आवश्यकता है। डाक्टरी में इस जल की गरमाहट ३८ सेंटिग्रेड अच्छी बतलाते हैं। यह नाप "बाथ थर्मामीटर" से जानी जाती है। गरम पानी में थर्मामीटर का पारेवाला अंश डालकर हिलाया जाताहै तब वह पारा जलकी गरमी से ऊपर चढ़ने लगता है। जब थर्मामीटर का पारा ६४ सेंटिग्रेड पर पहुंच जाय तब उस जल को बालक के स्नानोपयोगी मानते हैं। जहाँ पर जलकी यथार्थ उष्णता का ज्ञान नहीं, वहाँ दाइयाँ जल में अंगुली डालकर या हथेली में जल लेकर उसकी परीक्षा करती हैं। पर उनका यह काम चाहिये जैसा उचित नहीं, क्योंकि बराबर काम धंदा करते रहने से हाथों का चमड़ा इतना कठोर हो जाताहै कि उस से जल की गरमाहट की यथार्थ परीक्षा नहीं हो सकती। ऐसी दशा में जलको एक पतले हलके (गिलास) जैसे बरतन में भरकर गाल पर लगाना। यदि बरतन की गरमाहट मामूली गाल से सह्य मालूम हो तो वह ठीक है, वैसे ही जल से बालक को स्नान कराना।

नाल काटने और बाँधने के लिये एक तेज चाकू या कैंची और रेशम का डोरा चाहिये। बालक के भूमिष्ठ होने पर जब उसका गला साफ कर दिया जाय और बालक श्वास लेने

लगे तब उसके नाल को पकड़ कर नाभि से चार पांच अंगुल की दूरी पर उसी रेशमी डोरे से नाल को कसकर बांध दे। उस समय यदि रेशमी डोरा न हो तो खूब साफ धुले हुये सफेद डोरे से भी काम लिया जा सकता है। डोरा बांधने के बाद उस बन्धन से एक अंगुल आगे नाल को तेज छुरी चाकू से काट दे। इनके तेज (पैने) और साफ होनेसे नाल शीघ्रता से कट जाताहै और उसमें कुछ खराबी नहीं पैदा होती। काटने पर कुछ गरम पानी से नाल के कटे हुये मुंह को धोदे। नाल काटते, नाल धोते और बच्चेको नहलाकर वस्त्र पहनाते समय नाल पर सदा ध्यान रखना चाहिये। इस समय नाल क किसी प्रकार झटका या खिंचाव पहुंच जाना बालक के लिये रोग का कारण होजाता है। बच्चे के जन्म के समय अपढ़ औरतें कभी कभी रसोई घर के मैले कुचैले तरकारी बनाने के चाकू या हसिया ले दौड़ती हैं, जो इस काम के लिये कभी उपयुक्त नहीं। इस प्रकार के भोंडे हथियारों से पहिले तो नालच्छेद ही सहज में नहीं होता, फिर झटका लगा तो बालक की नाभि खिंच आने तक की नौबत पहुंच जाती है, जिससे नाभिपाक आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार नाल काटने के बाद नाल पर और जहाँ पर वह लगा है उस नाभिप्रदेश पर बारीक पिसा हुआ थोड़ा सगजराव लगा देना चाहिये।

स्नान कराने के बाद भी बालक को अच्छी प्रकार साफ और मुलायम कपड़े से पोंछकर सफद कपड़े में और ऊपर

से फलालैन के टुकड़े में लपेटना चाहिये। पोंछते समय बगल और गले का देह का जल तथा पैर की रान अच्छी प्रकार सुखा देना और उस जगह सगजराव लगा देना चाहिये। लपेटने के लिये जो सफेद कपड़ा हो वह ७-८ इञ्च चौड़ा और १ हाथ लम्बा हो। इसी के नीचे एक छोटे (४ इञ्च लम्बे चौड़े) कपड़े में छेद करके बालकके पेटपर रख देना और उस कपड़े के छेद में से नाल को बाहरी तरफ निकाल लेना चाहिये। इससे नाल जल्दी सूखता है और पेट से दबके रिसने नहीं पाता। इसके ऊपर से बालक के पेट और छाती पर एक हाथ लम्बी पट्टी लपेट कर थोडी फलालैन लपेट देना चाहिये। और फलालैन को पिनों से जहाँ की तहाँ बाँध देना चाहिये। फलालैन की पट्टी बाँधते समय यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि पट्टी पूरे धड़ पर हो, उससे फेफड़े और पेट का सभी भाग ढक जाय और बँधी हुई पट्टी इतनी ढीली हो कि बालक के फेफड़े और पेट काफी वायु को ले सकें। यदि पट्टी के भीतर १ अ गुली देने लायक ढीली बाँधी जायगी तो यह काम अच्छी प्रकार हो सकेगा। सर्दी के दिन हों तो बालक की छाती तक एक और दूसरा कपड़ा ओढ़ा देना चाहिये। क्योंकि बालक स्वभावतः कोमल होते हैं और उनके कोमल शरीर को सरदी लगकर नाना प्रकार के रोगों के होने का भय सबसे अधिक होता है।

वालकों का नाल तीसरे दिन से छठे दिन तक सूखकर खुद ही गिर जाता है। नाल गिरने से पीछे वालक के वस्त्रों में परिवर्तन कर देना चाहिये। जैसे नाल गिरने से पीछे नाभि में थोडा सा तेल चुपड कर रुई की गादी रख देना और ऊपर से उसी प्रकार सादे कपडे और फलालैन की पट्टी लपेट कर ऊपर से मुलायम साफ कपडे का कुरता पहना देना चाहिये। वालककी पीठ के नीचे भी रुई की एक मुलायम गादी विछा देना चाहिये और नाभिनालकी जगह होशियारी से नित्य दिनमें दोबार तेल लगा देना चाहिये। यदि वालकके शिर में भी तेल लगाया जाय तो विशेष अच्छा है। ऐसा करने से वालक शीत की बाधा से बच जाता है और उसका मस्तक भी ठण्डा वना रहता है। वालक को जिस शय्या पर सुलाया जाय उसके ऊपर से तेज झपाटेदार या दरवाजे की सीधी हवा न पडने देना चाहिये। वालक को ऐसी खिडकी के नीचे सुलाना विशेष अच्छा है जिसके जगले वालक की शय्या से एक हाथ ऊंचे हों। इसी प्रकार जन्म-स्नान के वाद वालकको १० दिन के भीतर फिर स्नान न कराना चाहिये। इतने दिनमें वालक की नाभि का घाव सूख जाता है और उसे सरदी लगने का भय भी नहीं रहता।

वालक को स्तनपान कराने को कौन सा दिन उपयुक्त है, इसपर भिन्न भिन्न स्थलों में भिन्न भिन्न राय पाई जाती है।

कभी तो किसी स्त्री को १।२ दिन दूधही नहीं उतरता। इस लिये बालक को शकर के जल की घूटी दी जाती है और दूध उतरने पर दूध पिलाया जाता है। बाज़े घरों में नियम है कि वे पहिले दिन गुड़ या शकर की घूटी के सिवाय दूध पिलाते ही नहीं। पर ये दोनों बातें ठीक नहीं। गर्भाशय और स्तनों के बीच में ज्ञानतन्तुओं का एक विचित्र सम्बन्ध है। गर्भाशय के प्रसवोन्मुख होते ही स्तनों में दुग्ध-सञ्चरण होने लगता है। पर, किसी माता को देर से दूध की प्रवृत्ति हो यह बालक के प्रेम और संसर्ग पर निर्भर है। स्तनों में भरा हुआ दूध बिना बालक के स्तन-स्पर्श किये प्रवृत्त नहीं होता, इस लिये माता जब प्रसव कर्म से निवृत्त होकर स्वस्थ हो जाय और बालक भी स्नान आदि आवश्यक कामों से निवृत्त हो जाय तब बालक को स्तन-पान कराना चाहिये। कुछ स्त्रियों को यह खयाल रहता है कि पहिले पहिल का कठिन दूध पिलाने से बालक को हजम नहीं होता। पर उनका यह खयाल ठीक नहीं। वैसा दूध पीने से बालक का पेट अच्छी प्रकार साफ हो जाता है और गर्भ में रहते समय जो विकृत हुआ मल बालक के पेट में रहता है सहज में स्वाभाविक रूप से निकल आता है। यह रेचक गुण तत्काल-प्रसूता स्त्री के दुग्ध में ही होता है ७।५ दिनकी प्रसूता के दुग्ध नहीं होता।

यदि किसी कारण वश बालकको माताका दूध तत्काल न प्राप्त हो सके तो कुछ काल निर्वाह मात्र के लिये बालक को आधा चम्मच जन्म घूंटी पिलानी चाहिये। फिर माता का दूध दो दो घण्टे बाद पिलाते रहना चाहिये।

यहाँ से प्रत्येक बालक को नियमिताहारी बनने का अभ्यास डालना चाहिये। प्रायः बहुत सी मातायें अनेक बालक पैदा करने पर भी अनुभव-शून्य होती हैं। उनको यही ज्ञान होता है कि जब तक वे बालक से अलग न हों या बालक सो न जाय तब तक उसे बराबर स्तन से लगाये रहती हैं। यह अभ्यास बड़ा बुरा है। इस अभ्यास से हमने ३।४ दिनमें जन्मे हुये बालकों को भी रोगी देखा है। जो मातायें बालक को सोरड के भीतर नियमित रूप से स्तनपान नहीं करातीं वे बालक के जीवन में कीड़ा पैदा करती हैं। जन्मसे पीछे पहिले या दूसरे दिन बालक को काला कीट जैसा पाखाना होता है और फिर कुछ हरा-पीला पतला होता है। पर जिन्हें अनियमितरूप से दुग्धपान कराया जाता है उन्हें पाखाना अधिक, पतला फेनादार होता है और पेट फूला जैसा मालूम होता है यदि किसी बालक को यह लक्षण प्रतीत हों तो माता को और भी अधिक देरी में अर्थात् २॥—३॥ घण्टे में बालक को स्तनपान कराना चाहिये।

वर्त्तमान समय की कुछ पढ़ी लिखी स्त्रियों का यह ख़याल कि दुग्ध पिलाने से हमारा सौन्दर्य नष्ट होता है, बड़ा बुरा है। बालक के लिये प्राकृतिक भोजन माता का दुग्ध न मिले तो अप्राकृत पेय पदार्थों (नक़ली दुग्ध आदि) पर बालक का जीवन चल नहीं सकता। विलायत की शौक़ीन स्त्रियाँ जिन बालकों का परित्याग कर देती हैं उनके पालन पोषण के लिये कुछ अनाथ बालकाश्रम नियत हैं। इन मंदोम कार बालकों का पोषण होता है। एक जगह कृत्रिम पेय (दुग्ध आदि) द्वारा और दूसरी जगह प्रसूतास्त्रियों के द्वारा। वहाँ भी यह सिद्ध होचुका है कि स्त्रियों द्वारा पोषण से बालकों की मृत्युसंख्या बहुत कम होती है। यदि स्त्रियों द्वारा दुग्ध पिलाने से प्रति शत ३४ से ३५ तक बच्चे मरते हैं तो नक़ली दुग्ध पिलाने से प्रति शत ५० से ६३ तक मरते हैं।

जिस प्रकार एक दूसरे का प्राकृतिक सम्बन्ध उसके प्राकृतिक नियमों के पालनार्थ होता है उसी प्रकार माता पुत्र का सम्बन्ध भी है। इसलिये माता का दूध बच्चे के लिये प्राकृतिकपेय है और सब अप्राकृतिक हैं। इसके प्राकृत होने का यह भी मुख्य प्रमाण है कि ज्यों ज्यों बालक पैदा होने का समय निकट आता है त्यों त्यों उसके लिये स्तनों में दूध पैदा होता है। ऐसी दशा में किसी माता का बच्चेको दूध न पिलाना कितना अन्याय और क्रूरतपहै यहबात सहजमें समझमें आजातीहै

दूध पिलाने से माता बच्चे की तरफ से केवल अपने कर्तव्यसे छूट जाती है सो भी नहीं। प्रसूति समय के निकट स्त्री के स्तन भारी और ऊचे होने लगतेहैं। उनमें गाठें पडती हैं और तनावट के कारण स्तनों पर नीली नसें दिखाई देने लगती हैं। प्रसव होने पर दुग्ध आने लगता है तब यदि उसे उचित मार्ग नहीं दिया जाता है तो स्त्री के लिये एक नई व्याधि ही पैदा हो जाती है। प्रसव होनेपर यदि माता के दूध को बालक। कम खींचता (पीता) है तो भी यह व्याधि होती है। ऐसी दशा में स्तनों में असह्य पीडा होती है और वे छुये नहीं जाते, प्रसूता को ज्वर आता है और वह बेचैन हो जाती है। पर ज्यों ही बालक दूध पीना आरम्भ करता है त्यों ही ये बातें लुप्त हो जाती हैं या होने ही नहीं पातीं।

पहिली बार माताके स्तनसे गाढा पीली प्रभा वाला थोडा दूध उतरता है, पीछे वह बराबर हलका उतरता है। पहिली बार बच्चा पैदा होने या चौथी पाँचवींवार बच्चा पैदा होने पर कुछ स्त्रियों को दूध कम उतरता है या देर में उतरता है। पर ऐसी दशा में केवल दूध की प्रतीक्षा में बालक को स्तनपान नहीं कराना या दूध न होते हुये भी घण्टों बालक के मुह में स्तन लगाये रहना बुरा है। क्योंकि पहिली दशा में स्तनपान कराये बिना इच्छानुसार दूध की प्रवृत्ति होना-स्तनों में एक गुदगुदी होकर दूध का पैदा होना

हो नहीं सकता। दूसरी दशा में छूछा स्तन पाने से बालक को खिजता या चिड़चिड़ा पैदा होती है। फिर बराबर स्तन लने से वह मुख फेरता है या दूध नहीं चावता, पर किसी स्त्री को कारणवश या स्वभावतः दूध की कमी हो तो बालक को और दूसरी प्रसूता स्त्री का दूध या गाय का दूध पिलाना चाहिये।

दूध के अभाव में यदि दूसरी प्रसूता स्त्री का बन्दोबस्त करना हो तो नीचे लिखी बातोंपर अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

१—दूध पिलाने वाली के गोद में थोड़े दिन का पैदा हुआ बच्चा हो।

२—उसकी अवस्था जवान हो और वह सब प्रकार तन्दुरुस्त हो।

३—उसके दूध इतना हो कि उसके गोद के और दूसरे (जिसे दूध पिलाने आई हो) बच्चे के लिये कभी कमी न पड़े।

४—उसका चाल चलन अच्छा हो, बच्चों पर बराबर प्यार करती हो और दोनों बच्चों की प्रत्येक बात पर बराबर ध्यान रखती हो।

५—भोजन के लिये नियम शील हो, स्नानादि से स्वच्छ और प्रसन्न चित्त रहती हो।

६—उसके स्तन इतने बड़े न हों, जिससे दूध पीते हुये बच्चे की श्वासोच्छ्वास-क्रिया भी रुकती हो।

७—दूध पिलानेवाली धाय का पुरुष से ससर्ग न होता हो और न वह किसी प्रकार की चिन्ता में मग्न हो।

ऊपर लिखे नियमों के अनुसार दूध पिलाने वाली धाय की तलाश करने में जरा भी आलस्य न करना चाहिये। आलस्य करने से बालक के जीवन और सुख का सर्वनाश हो जाता है। कुछ मनुष्य माता के दुग्ध न होने पर बच्चे को गाय या बकरी के दूध पर ही रखना चाहते हैं, पर उनकी यह इच्छा बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती। इससे तो विशेष अच्छी बात यही होगी कि धाय का बन्दोबस्त किया जाय। धाय की अवस्था २० से ३० वर्ष तक होनी चाहिये, इससे अधिकांशमें स्वस्थ धाय मिलनेकी सम्भावनाहै। दूसरी बात यह है कि इस अवस्था वाली धाय के २।३ सन्तान पैदा हो लेती हैं, जिससे उसका बालक पालन करने का अभ्यास-क्रम भी पुष्ट रहता है। यदि धाय को एक ही सन्तान हो चुकी हो तो वह बालक के लालन पालन में प्राय अनभिज्ञ ही समझी जानी चाहिये। फिर पहिले प्रसव की अपेक्षा दूसरे या तीसरे प्रसव में धाय के दूध भी पूरी तादाद में उतर सकता है, जिससे वह अपने और दूसरे के बच्चे को पेट भर दूध पिला सकती है और वह दूध भी उस समय पहिले की अपेक्षा विशेष अच्छा होता है।

फिर धाय के बच्चे की तरफ भी जरा ध्यान देना आव श्यक है। धाय की गोद के बच्चे की और अपने बच्चे की अव स्था प्राय समान ही होनी चाहिये, उस में विशेष अन्तर होना भी कल्याणकारक नहीं है। यह नियम है कि प्रसव के पीछे जितना अधिक समय बीतता है स्त्रियों का दूध उतनाही पौष्टिक और गाढ़ा होता जाताहै। इससे यदि दो सप्ताह के पैदा बच्चे के लिये ६ महीने के बच्चे वाली धाय दूध पिलाने आवे तो उसका दूध अपने छोटे बालकके लिये निरा निरुपयोगी हो सकता है। उस समय उस धाय का दूध उसके बच्चे के लिये पाचन और पौष्टिक तथा दो सप्ताह वाले बालक के लिये अपाचन और रोगकारक हो सकता है।

फिर बालक की तरह धाय के नीरोग होने का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिये। धाय नीरोग होनेके विषयमें चिकित्सक से परामर्श ले लेना चाहिये। विशेषत उन रोगों पर चिकि त्सक का ध्यान अवश्य होना चाहिये जिनसे बालक को हानि पहुंचने या उन से बालक के आक्रान्त हो जाने का विशेष भय हो। धाय को ज्वर, मन्दाग्नि दन्तरोग, गर्भाशय के रोग, मासिक विकार, रक्त-विकार दुग्ध-रोग स्तन-रोग, बवासीर, कुष्ट खुजली, अपाचन आदि न होना चाहिये।

इसी प्रकार धाय के स्तन और दूध की परीक्षा भी होनी चाहिये। धाय के स्तन इतने भारी न होने चाहियें, जिनसे दूध पीते समय बालक का मुह दबजाय और श्वास लेने में भी कष्ट मालूम हो। जो स्तन कम दूध वाले, अधिक चर्बी वाले और ढीले होतेहैं उन्हीं में यह दोष होताहै। स्तनों के अग्रभाग विटकऐ (आँचर) इतने लम्बे और मोटे होने चाहियें जिनसे बालकको दूध पीने में सुभीता हो। बहुत छोटे होनेसे बच्चा इन्हें मुंह से ठीक दबा नहीं सकता और बार बार मुंह से निकल जाने के कारण दूध पीनेमें भी असुविधा होतीहै। स्तन-परीक्षा होने के बाद धाय का दूध एक साफ चम्मच या काँच के पात्र में निकालकर देखना चाहिये। अच्छे दूध की यही पहिचान है कि वह रङ्ग में सफेद, हलकी नीली प्रभा देने वाला और पानी जैसा तरल और मीठा होना चाहिये। उस दूध को यदि पानी में डाला जाय तो वह जल में अच्छी प्रकार मिल जाता है। इस दूधकी परीक्षा यदि एक सप्ताहमें या अधिक से अधिक एकमास में करली जाया करे तो विशेष अच्छी बातहै, क्योंकि बच्चे के लिये इसका अच्छा होना बहुत जरूरी है।

प्रसव के पीछे जब स्त्री पहिले पहिल मासिक धर्म प्राप्त

करती है तभी से दूध का पोष्टिक भाव कम होने लगता है। इससे किसी धायको नियुक्त करने से पहिले यह भी जान लेना चाहिये कि वह प्रसव के बाद मासिक धर्म प्राप्त कर चुकी है, या शीघ्र ही प्राप्त करने वाली तो नहीं है ? जिस स्त्री को प्रसव के बाद मासिक हो चुका हो उस धाय के स्थान में नियुक्त न करना चाहिये। परन्तु बालक के दूध पीते रहने के ६।७ महीने बाद उसे मासिक धर्म आरम्भ हो तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। क्योंकि उस समय तक बालक की अवस्था ६।७ महीने की होने के कारण उसे आहार के लिये और चीजें भी दी जा सकती हैं। उस अवसर पर बालकके दाँतों का निकलना भी आरम्भ हो जाता है।

धाय की तन्दुरुस्ती के साथ साथ उसके चाल चलन की शुद्धता का खयाल रखना भी जरूरी है। धाय को दुराचार (नशा पीना इत्यादि) की आदत होने से बच्चे का अनिष्ट होता है, धायका निज का बच्चा भी नीरोग होना आवश्यक है। उस बच्चे को यदि संग्रहणी, लार टपकना, खुजली, फोड़े फुंसी, सूखा, पँसुली, धनुष्टंकार, अपस्मार, कुष्ठ आदि रोग हों तो उन रोगों से अपने बच्चे को बचा नहीं सकते। इससे ऐसे रोगी मा को भी धायके काम में नहीं नियुक्त करना चाहिये।

यह सब परीक्षा धाय का नियुक्त करने के समय की है। धाय को नियुक्त करके फिर उसकी तन्दुरुस्ती का ख्याल भी प्रत्येक धाय रखने वाले को जरूर रखना चाहिये। ऐसा न होने से धाय के साथ साथ दूध पीने वाले बालक का भी बहुत अधिक अपकार हो सकता है।

धाय को तन्दुरुस्त रखने के लिये सबसे प्रथम उसके खान पान पर ध्यान देना चाहिये। यह नियम की बात है कि बच्चे के लिये धाय रखने वाले प्रायः धनवान होते हैं और धायका कर्म करने वाली स्त्रियाँ निर्धन और साधारण होती हैं। अतः उनका खान पान भी वैसाही सादा होता है। देखा गया है कि जब ये धनवानों के घर में धाय के कृत्य पर आती हैं, तब उनकी कुछ आहार-व्यवस्था तो स्वच्छा से ही बदल जाती है पर कुछ को धाय रखने वाले बदल देते हैं। वे समझते हैं कि यदि धाय को हम अच्छे पौष्टिक भोजन करायेंगे और सुख से रक्खेंगे तो हमारा बालक अच्छा दूध पावेगा और सुखी रहेगा। पर यह विचार लाभ के बदले हानिकारक हो जाता है। साधारण घर की गरीब धाय दिन भर परिश्रम करके दिन में दो बार मोटे अन्न से पेट भरती हुई आती है, पर यहाँ आते ही उसकी मेहनत बन्द की जाती है और मलाई के लड्डू, मैदा

की पूरी और मिठाई का आहार दिनमें चार बार कराया जाता है। ऐसी दशामें उसका पाचन बिगडता है और पाचन बिगडकर वह बीमार बनती है, जिससे दूधभी अच्छेके स्थानमें खराब और कम उतरने लगता है। इसलिये जहां तक हो सके धाय को वैसा ही या उसीसे मिलता जुलता आहार देते रहना चाहिये जैसा कि वह अपने मकान पर खाती रही हो। जहां तक बने उससे उठने बैठने या काम कराते रहने का अभ्यास भी बराबर बनाये रखना चाहिये। इससे उसका पाचनक्रम ठीक रहता है। यदि धाय की आहार-व्यवस्था से बालक को कुछ हानि पहुंचने की संभावना हो तो चिकित्सक से परामर्श करके आहार व्यवस्था बदलनी चाहिये।

धाय को प्रात काल शौचादि क्रिया से निबटाकर स्नान कराना चाहिये और कुछ देर बच्चे समेत खुली वायु में घूमने देना चाहिये। उससे मिष्ट भाषण करना और उसके मनको सदा प्रसन्न बनाये रखना चाहिये। यदि उसकी कोई खास बात जानना जरूरी हो तो सूक्ष्म दृष्टि से ही जानना चाहिये, जिससे उसके मन पर बुरा असर न पडे। किसी अनिवार्य कारणवश यदि धाय का बदलना हो तो इस बात की सूचना उसे तब तक न दी जाय जब तक दूसरी धाय का बन्दोबस्त

न कर लिया जाय। बीच में ही स्थान-त्याग की सूचना देने से यदि धाय को अपनी जीविका का संशय हुआ तो उसके मन में चिन्ता और चिन्ता से उसके दूध के विकृत हो जाने का भय रहता है।

यदि दूध पिलाने वाली धाय के गर्भ रहने के लक्षण मालूम हों तो उसको धाय के काम से जरूर हटा देना चाहिये।

जिन स्त्रियों को दूध नहीं उतरता या रोग-युक्त होता है उन्हीं को धाय रखने का प्रसङ्ग होता है। यह सब से अच्छा ढङ्ग है। परन्तु जिनको सामर्थ्य नहीं; वे धाय नहीं रख सकते। ऐसी दशा में उन्हें कृत्रिम दूध पर या पशुओं के दूध पर बालकों का आहार चलाना पड़ता है। विलायत से टीन के डब्बों में जो कृत्रिम दूध आता है बहुत से चिकित्सकों के मत से वह बालकों के लिये काम में लाया जाता है। पर वह पशुओं के ताजे दूध का जैसा हितकर नहीं है। इससे जब कोई भी प्रकार का दूध बालक को न पहुंचा सकें तब उस दूध का प्रयोग भले ही करें, अन्यथा नकली दूध का कभी प्रयोग न करें।

बालक के पीने के लिये तीन प्रकार का दूध काम में लाया जा सकता है। गदहों का दूध डाक्टरों मत से विशेष श्रेयस्कर

माना जाता है। उनकी सम्मति में गदहीं का दूध स्त्रियों के दूध से बहुत कुछ मिलता जुलता है। परन्तु पहिले तो यह प्राप्त होना ही सहज नहीं, फिर यह तमोगुण-विशिष्ट है, इस लिए हमारी समझ में बालकों के शुद्ध मनोभाव और शुद्ध बुद्धि के सम्पादन के लिए यह (गदही का) दूध पिलाने योग्य नहीं है। इसी प्रकार बकरी का दूध भी देने योग्य हो सकता है, यह हलका है, सुपाच्य है। पर उसमें पौष्टिक भाग बहुत ही न्यून है। इससे यदि गाय का दूध काम में लाया जाय तो वह विशेष अच्छा है। गाय के दूध और माता के दूध में कुछ अन्तर अवश्य है, जैसे-माता के दूध से अधिक चिकनाई गाय के दूध में होती है, पर शकर का भाग उससे कम होता है। परन्तु, जल शकर आदि मिलाकर गायके दूधको माताका दूध जैसे बनाया जा सकता है। इस कार्य्य में यद्यपि कुछ कठिनता होती है, तथापि कुछ ध्यान देने से यह कार्य्य अच्छी प्रकार किया जा सकता है।

आजकल प्रत्येक वस्तु का खालिस मिलना कठिन है। शहरों में जिस प्रकार अनेक वस्तु मिलावट की मिलती हैं, दूध भी उसी प्रकार मिलावटी मिलता है। लाभ के लोभ से और भाव में मद्दा बनाने के लिये बाजार के दुकानदार दूध में

जल, आटा, अरारोट, चाक आदि मिला दिया करते हैं। पर बालक के लिये जो दूध लिया जाये वह खालिस लिया जाना चाहिये। बड़े शहरों में विश्वासी डेरी फार्मों से यह काम अच्छी प्रकार चल सकता है। जिन्हें शक्ति है वे यदि अपने घर पर गौ रखकर दूध प्राप्त किया करें तो विशेष अच्छी बात है। इसमें एक अच्छापन यह भी है कि बालक को सदा एक ही प्रकार का दूध मिलता रहता है। जिन्हें बाजार या डेरी फार्म से दूध लेना हो, वे भी एक ही गाय का दूध काम में लावें तो विशेष अच्छा है। आज एक गाय का, कल दूसरी गाय का, परसों तीसरी गाय का, इस प्रकार नित्य नई गाय का दूध बदलना या कई गायों का गड्ड दूध पिलाना बालक के लिये हितकारी नहीं हो सकता।

यदि जन्म से (१ मास की अवस्था के भीतरही) गाय का दूध पिलाना हो तो दो सप्ताह तक खालिस गाय के दूध में बराबर परिमाणका जल मिलाना चाहिये। बादमें तीनमहीने तक दो भाग दूध में एक भाग जल मिलाना चाहिये। फिर कम करते करते पाँचवें महीने तक जल मिला दूध पिलाकर पीछे खालिस दूध पिलाना चाहिये। पिलाने के समय दूध में थोड़ी शक्कर मिला देना चाहिये।

जब दूध में जल मिलाना हो तब दूध और जल की तौल नाप ठीक ठीक कर लेना चाहिये। दूध यदि बिलकुल ताजा तत्काल दुहा हो तो उसमें औटाया हुआ जल मिला देना चाहिये। दोनों चीज मिलकर उस दूध की गरमाहट उतनी होना चाहिये जितनी की ताजे दूध में होती है। उससे अधिक गरम दूध बालक को कभी नहीं पिलाना चाहिये। यदि दूध कुछ देर होने के कारण गरम रखने की आवश्यकता हो तो एक पानी का भरा चौड़े मुह का पात्र (या बालटी) चूल्हे पर चढ़ा देना चाहिये और उसमें इतना पानी रखना चाहिये जिसमें दूध का पात्र आसानी से रक्खा जासके और उस पात्र का जल दूध में न मिलने पावे।

आरम्भ में कुछ दिनों तक एक बार में एक छटाँक दूध से अधिक बालक को न पिलाना चाहिये। दूध पिलाने में समय का भी ध्यान रखना चाहिये। सबसे अच्छा समय वह है कि जब बालक सोकर उठे और रोकर दूध माँगे। यदि ऐसा अवसर ठीक न होसके तो दो या तीन घण्टे में दूध पिलाना चाहिये। जब बालक दो सप्ताह का हो जाय तब उसकी खुराक बढ़ाकर एक छटाँक से डेढ़ छटाँक दूधकी कर देनी चाहिये और तीन मास के बालक की एक बारकी मात्रा यदि वह पचा सके आध-

पाय दूध की कर देनी चाहिये । दिन की अपेक्षा रात को अधिक देरी से (३।४ घण्टे के अन्तर से) दूध पिलाना चाहिये। बालक जिस प्रकार अवस्था में बड़ा हो उसी प्रकार दूधकी मात्रा अधिक और अधिक समय में देते रहना चाहिये। कुछ मातायें धायें या पालन करने वाली स्त्रियें बालकों के आहार और समय की मात्रा ठीक न रखकर ही उन्हें जन्म-रोगी बना डालती हैं ।

बालक के लिये दूध पीने की सबसे अच्छी विधि स्तन पान की है। परन्तु दुर्भाग्यवश माता और धाय दोनों के अभाव में जब उसे ऊपरी दूध पिलानाहो तो उसके दो प्रकार हैं, चम्मच से पिलाना या कांच की शीशी से। इनमें चम्मच से पिलाने का ढङ्ग अच्छा नहीं। चम्मच से दूध पिलाते समय यदि थोडी भी भूल होजाय तो बालक को उसी समय खाँसी आकर कै होजाती है, अथवा लार के साथ साथ दूध भी बालक के मुह से बाहर गिरता रहता है। इस प्रकार लार पेट में न पहुचने से बालक के पाचन में बाधा पड़ जाती है, इससे यह ढङ्ग अच्छा नहीं ।

दूसरा ढङ्ग काँच की शीशी से पिलाने का है। इस काम के लिये बाज़ार में खास तौर की शीशियाँ बिकती हैं, जिनके

मुंह में बालक के पीने योग्य स्त्रियों के आँचर जैसी रबड़ की नली लगी रहती है। इस रबड़ की नली को मुंह में लेकर बालक अच्छी प्रकार माता के स्तन की भाँति ही दूध पीता रहता है। पर, शीशी रखने में एक बातपर विशेष ध्यान देना चाहिये। कुछ दूध पिलाने वाली स्त्रियाँ मूर्खता वश शीशी को दूध से परिपूर्ण करके बच्चे के पास रख देती हैं, इससे बच्चा जब दूध पीलेता है तब कुछ दूध उसमें बाकी रह जाताहै और वह गरमी पाकर खटाई ले आता है। फिर उस शीशी में यदि ताजा दूध भराजाय तब भी वह बिगड़कर बच्चे के पीने योग्य नहीं रहता। वैसा दूध पीने से बालकों को बड़े बड़े रोग मुंह से लार गिरना, मुंह आना, दूध न पचना, दस्त आना कै होना इत्यादि-पैदा होजाते हैं, जिनसे कभी कभी तो बच्चे की मृत्यु ही होजाती है। इसलिये शीशी के लिये साधारणतः इस नियम को ध्यान में रखने से ये व्याधियाँ होने से रुक सकती हैं। जिनको शीशी से बच्चों को दूध पिलाना हो, उन्हें निरालस्य होकर यह नियम अवश्य ही पालन करना चाहिये।

पहिले साफ शीशी में उतना दूध भर देना चाहिये, जितना कि पिलाना हो। जब बालक दूध पी चुके तब शीशी का कार्क

और रबड़ की नली निकाल कर शीशी, कार्क और नली को तेज गरम पानी से खूब धोना चाहिये और शीशी आदि में लगे हुये जल को पोंछकर शीशी को खुली हवा में रख देना चाहिये। इससे शीशी से होने वाले दोषों का यथासम्भव प्रतीकार हो जायगा।

कदाचित् असावधानी से इस प्रकार दूध पिलाने से बालक को अजीर्ण मालूम हो तो उसकी दूध की मात्रा कुछ कम कर देनी चाहिये। अथवा, उस दूध में साफ शुद्ध चूने का पानी १० वें हिस्से से चोथाई हिस्से तक मिलाकर पिलाना चाहिये। किस दशा में किस व्यथा में, कितना चूने का पानी दूध में मिलाया जाय यह बात चिकित्सक के परामर्श पर निर्भर करती है।

बालक कोमल शरीर और कोमल प्रकृति के होते हैं, इस लिये उन्हें खिलाने पिलाने के समय भी किस प्रकार रखना चाहिये इस बात के ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। कुछ मातायें दूध पिलाते समय बालक को आड़ा, तिरछा, सीधा, किसी प्रकार गोदी में डालकर दूध पिलाना आरम्भ कर देती हैं, पर, यह लापरवाही अच्छी नहीं। इससे बालक मुख से दूध

नहीं पी पाता, न उसे श्वास ही सुख से मिलता है, कभी कभी तो ऐसी दशा में पेट दबकर बालक को कै होजाती है और वह घबरा जाता है। बालक को दूध पिलाने का साधारणतः यह तरीका अच्छा है कि एक हाथ की हथेली (या कुहनी के पास का हिस्सा) बच्चे की गरदन के नीचे हो, जिस से उसका मस्तक ऊंचा रहे और पीठ तथा सिरको सहारा पहुँचता रहे। दूध पीते समय बालक का ऊपरी हिस्सा ऊंचा और नीचे का हिस्सा नीचा रहे और पेट किसी प्रकार दबने न पावे। यदि खटोले पर सुलाकर शीशी से दूध पिलाना हो तो एक हलका सा पतला चपटा तकिया उसके सिर और गरदन के नीचे लगा देना चाहिये। इस प्रकार दूध पिलाने से बालक को कुछ कष्ट नहीं होता।

दूध पिलाने के बाद बालक खेले या जगता रहे, उसे गुलगुले बिछे हुये खटोले पर लेटा देना चाहिये। कुछ मातायें दूध पिलाकर बालक को उछाल उछालकर खिलाती या उसे हँसा हँसाकर उलट पुलट करती हैं। पर, उनका ऐसा करना बुरा है। इसी प्रकार कुछ बालकों के खिलाने का भार घरकी (या नौकर की) कम उमरवाली बालिकाओं पर डाला जाता है, जिससे वे जैसा बनता है वैसेही बालक को गोदी में लिये

लटकाये फिरती हैं। यह अभ्यास भी बुरा है। जब तक बालक को धरती पर बैठाने का अभ्यास न डाला जाय तब तक उसका अधिकांश समय खटोले पर ही बीतना चाहिये। हर वक्त पास रखना बुरा है, इससे बालक डरपोक और कमजोर होजाते हैं।

बालकों के जब आगे के दूधिया दाँत निकल आयें तब उनकी खुराक में कुछ परिवर्तन कर देना चाहिये। हमारे शास्त्रों में यही समय (छठा महीना—क्योंकि पहिले दूधिया दाँत ५ से ७ मास की अवस्था तक निकलते हैं) अन्न-प्राशन का स्थिर किया है। इस से यह न समझना चाहिये कि बालक का दूध छुड़ाकर एकदम अन्न पर लाना चाहिये। एकदम परिवर्तन कर देने से तो पूरी हानि होने की सम्भावना रहती है। इस समय दूध से भिन्न दाल भात या खिचड़ी का चटाना अच्छा है। जिन्हें बिसकुट खिलाना कुछ असंगत नहीं जचता, वे सूजी का बना हुआ बिसकुट थोड़ा थोड़ा दे सकते हैं। बहुत से घरों में ऐसे समय खोया की या मैदा की बनीहुई मिठाई खिलाते हैं, वैसा करना ठीक नहीं है। क्योंकि दूध से उतर कर बालकों के लिये अन्न का अभ्यास

टुकड़ा पेट में जाने से पचता नहीं, फिर यदि पेट में जाने से प्रथम कण्ठ में ही अटक गया तो बालक को पूरा कष्ट झेलना पड़ता है। इसलिये यह भी आवश्यक है कि बालकों को अन्न या फल खूब चबाने का अभ्यास डालना चाहिये। उन्हें यह बात हर तरह से सिखाना चाहिये। यह अभ्यास सिखाना पड़ता है। कुदरती अभ्यास से बालक केवल निगलना ही जानते हैं।

शरीर की वृद्धि बाल्यकाल में इतनी शीघ्रता से होती है, जितनी कि और किसी अवस्था में नहीं होती। इसी लिये बालक को इस समय खुराक की विशेष आवश्यकता होती है। खुराक से ही शरीर के भरण पोषणका मुख्य कार्य सम्पन्न होता है, पर, इस नियमपर चलतेसी माताओं को बालकों की खुराक का परिमाण जरूर ध्यान में रखना चाहिये। बालक भायी दिन में ४। ५ बार भोजन पासकते हैं और सम्भवतः पचा भः सकते हैं, किन्तु, जितनी बार जितनी खुराक खाकर पचा सकें उन के लिये वही परिमाण ठीक हो सकता है। माता को उचित है कि प्रथम बार के भोजन के पचने पर ही बालक को दूसरी बार भोजन दें। अच्छी प्रकार पचा हुआ भोजन वास्तव में पौष्टिक हो सकता है अन्यथा रोग कारक होता है। भोजन के समय कुछ घरों में चाय काफी

का भी विधान होता है और वे अपनी चाल के अनुसार बालकों को भी पिलाते हैं, यह चाल अच्छी नहीं। बालकों को कोई भी दुर्व्यसन वाली वस्तुओं और नशों से सदा दूर रखना चाहिये। चाय पीने से बालकों का विशुद्ध पाचन बिगड़ जाता है। इसी प्रकार कुछ मातायें अपने बालकों को अधिक समय तक सोता रखने और निज का काम निपटा लेनेके लिये अफीम देने का अभ्यास डालती हैं। इसी दुरभ्यास के कारण कई बार बालकों को मृत्यु के मुख में जाना पड़ा है। बालकों के कोमल ज्ञानतन्तु नशीली चीजोंके योगसे बिलकुल कठोर और निकम्मे हो जाते हैं। कई बार ऐसी दशा में बालकों का जीवन ही व्यर्थ हो जाता है। उनकी चैतन्यावस्था मुर्दा जैसी, प्रतिभा लुप्त और स्फूर्ति नष्ट हो जाती है। बालकों का भोजन प्राय सादा होना चाहिये। अधिक मसाले, घी (या तेल) वाले भोजन बालकों को कभी न खिलाना चाहिये। इन से भी उनका पाचन-क्रम बिगड़ जाता है।

बालकों का स्वास्थ्य ठीक रखने के लिये उनको साफ सुन्दर रखना चाहिये। साफ रखने के लिये मुख्य साधन स्नान है। इसलिये छोटे बालकों को शीत स्थानों में तीसरे दिन और उष्ण स्थानों में प्रति दिन स्नान कराना चाहिये।

स्नान के लिये गरम पानी का उपयोग करना अच्छा है। कुछ मातायें ठण्ढे पानी से बालकों को स्नान कराया करती हैं। और वे समझती हैं कि इस कृत्य से बालक पुष्ट और सुन्दर होते हैं तथा बालकों को सरदी सहने का अभ्यास पड़ जाता है। पर यह भूल की बात है। बालकों के लिये गरम पानी से स्नान कराना जितना उपयोगी सिद्ध हुआ है उतना ठण्ढे पानी से नहीं। गरम पानी के स्नान से ये लाभ होते हैं।

१–शरीर का मैल सहज में दूर होता है।
२–चमड़े में कोमलता आती है।
३–रोमकूप अच्छी प्रकार शुद्ध रहते हैं।
४–आराम मिलता है और थकावट दूर होती है।
५–शरीर में रक्त की गति ठीक होती है।
६–शीत सहने की शक्ति पैदा होती है।

ठण्ढे जल के स्नान से ये बातें नहीं होतीं। बालक को जब स्नान कराना हो तब उसके शरीर पर कोई सुगन्धित तैल या औषधियों से बना तैल जो शरीर पुष्ट करने के लिये उपयुक्त हो, मल देना चाहिये। जो सुगन्धित तैल को काम में नहीं ला सकते हों उन्हें सरसोंका तेल काम में लाना चाहिये।

जिन घरों में साबुन लगाने की प्रथा है उन्हें विनोलिया साबुन बरतना चाहिये। पर साबुन का प्रयोग बालकके मुखपर समझ बूझकर ही करना चाहिये या बिलकुल न करना चाहिये फिर हलके गरम पानी के टब में बालक को खड़ा करके स्नान कराना चाहिये। बालक यदि जल से भय खाता हो तो उसका चित्त किसी दृश्य को दिखाकर बहला देना चाहिये। और उसे जल्दी जल्दी स्नान कराकर साफ तौलिये से पोंछकर कपड़े पहरा देना चाहिये या मुलायम वस्त्रों में लपेटकर सुला देना चाहिये। पोंछते समय बालक के प्रत्येक अङ्ग को अच्छी प्रकार पोंछ देना चाहिये। कोई अङ्ग भूल से गीला बना रहने से गलने लगता है या वहाँ पर कोई अन्य रोग पैदा होजाता है।

बालक को स्नान के समय यदि भूख लगी हो या उसे खाये पिये अधिक समय होगया हो तो पहिले उसे स्नान करा देना चाहिये, फिर खिलाना पिलाना चाहिये। स्नान कराने से पहिले तत्काल बालक को कुछ न खिलाना चाहिये, इस बात का खयाल प्रत्येक माता को अवश्य रखना चाहिये। स्नान के बाद खिला पिला कर सुलाने से बालक का स्वाध्य सुधरता है, पर उलटा काम करने से उसका स्वाध्य बिगड़ता है।

स्नान के पीछे बालकों की आँखों में किसी प्रकार का काजल जरूर लगा देना चाहिये। इससे उनकी आँखें निरोग रहती हैं और दृष्टि मजबूत होती है। काजल लगाने से आँखें चमकदार चीजों से कम चौंधियाती हैं और उनका विकास भी होता है।

दूसरा सफाई का काम बालकों की मलमूत्र-शुद्धि का है। जब मालूम होकि बालक मलमूत्र करने वाला है, तब यदि वह कपड़ा पहिने हो तो उसके कपड़े उतार डालना चाहिये। मल-त्याग के पीछे अच्छी तरह जल से शौच क्रिया करा देनी चाहिये। इस काम में विशेष सावधानी रखनी चाहिये। यदि कुछ देर बालक के शरीर में मल लगा रहा तो उससे उसके छाले फुन्सियाँ या अन्य रोग होने की सम्भावना हो जाती है। इस विषय में मलमूत्र—त्याग की इच्छा के लिये बालकों को किसी साङ्केतिक शब्द का ज्ञान करा देने से विशेष सुविधा हो जाती है।

तीसरा सफाई का काम बालकों को वस्त्र पहिनाना है। बालक के पहिने हुये वस्त्र में कहीं मलमूत्र लग जाय तो उसे दूरकर दूसरा साफ वस्त्र पहिना देना चाहिये। बालकों को

मैला कुचैला वस्त्र पहिनाने से उनमें चर्म रोग की वृद्धि होती है। बालक के शरीर पर से उतारे हुये वस्त्र को साबुन या सज्जी से धोकर साफकर देना चाहिये, इतने पर भी यदि वस्त्र में किसी प्रकार की गन्ध आती हो तो उसे धोबी से धुला डालना चाहिये। बहुत से गृहस्थों में बालकों के पोतड़ों (मलमूत्र—त्याग के लिये बचाव के कपड़ों) और पहिनाने के कपडों के विषय में बडी असावधानी देखी जाती है, ऐसा करना सर्वथा बुरा है। बालकों को पहिनाने के वस्त्र मुलायम रङ्गीन खासकर हरे या खाकी रङ्ग के, ढीले होने चाहियें। बालकों के कपडों में गडनेवाले बटन या पीतल के छुल्लेदार बटन न लगाना चाहिये। विशेष सफेद, लाल या चमकदार कपडे बालकों की दृष्टि के लिये हानिकारक समझे जाते हैं। जिन बालकों के रागवश लार टपकती है उनकी छाती पर स्पञ्ज की बनी हुई गद्दी लटका देनी चाहिये। जिसमें लार उसी जगह रहकर सारे शरीर को रागग्रस्त न करे। बालकों को आभूषण न पहिनाना चाहिये या बहुत कम पहिनाना चाहिये। यदि आभूषण पहिनाना हो तो बहुत हलके पहिनाना चाहिये। पैरों में भारी कड़े और छाती पर भारी भारी कठले पहिनाना बालकों के स्वास्थ्य का खराब करता है।

बालकों के स्वास्थ्य ठीक रखने का दूसरा मार्ग अच्छी निद्रा दिलाना है। यह नियम है कि जन्म से पीछे कुछ सप्ताहों तक बालक अपना अधिकांश समय सोने में खोता है, यदि वह कुछ देर जागता है तो केवल दूध पीने और मल त्याग के लिये। दूध पीकर फिर सो जाता है। छः सप्ताहों बाद उसके जागरण की मात्रा बढ़ने लगती है। ऐसी दशा में माताओं को भी चाहिये कि उनका मन बहलाकर निद्रा की मात्रा धीरे धीरे कम कराती रहें। यदि ५।६ महीने की अवस्था तक उनके सोने की मात्रा में कोई कमी न की जाय तो फिर बालकों की आदत खराब हो जाती है और इससे फिर उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इससे हमारा यह अभीष्ट नहीं कि निद्रा के आने पर बालक को अनावश्यकता से जगाया जाय अथवा सोते हुये को जबरन जगाया जाय। इससे तो उसके स्वास्थ्य की हानि होती है। हमारा अभीष्ट यह है कि जगते हुये बालक को बहलाकर कुछ देर अधिक जगने दिया जाय जिससे उसकी निद्रा का परिमाण धीरे धीरे कम पड़ता जाय। ऐसा न हो कि बालक जगा और उसने इधर उधर देखा, कोई उसके मन बहलाव की सामग्री न मिली तो फिर वह सो जाय, ऐसे ही ढङ्ग से बालकों को बारम्बार सोकर अधिक सोने का दुरभ्यास पड़ जाता है जो वास्तव में हानिकारक होता है।

विशेष--सूचना

४१ से ४८ पृष्ठ तक प्रेस की असावधानी से पृष्ठाक १७-२४ छपगये हैं। कृपया पाठक इन अङ्कों को सुधारलें, जिस में उन्हें भ्रम न होजाय। प्रकाशक।

है और उसका श्वास तक रुक जाता है। अथवा वे अपने बच्चों को पालने या गोदी में विशेष हला झुला कर सोने का अभ्यास डालती हैं जिसस बालक को वैसाही अभ्यास पडजाने के कारण जहाँ जरा हिलाना झुलाना कम हुआ कि बालक जाग उठता है।

इसके लिये साधारणत नीचे लिखे नियमों पर चलने से यह दोष दूर होसकता है। जाडे के दिनों में विशेषत छोटे बालक का माता के पास सोना आवश्यक है, क्योंकि उन दिनों का शीत सहने के लिये बालक के शरीर की प्राकृतिक गरमी यथेष्ट नहीं होती। इससे माता के शरीर की गरमी उसकी पोषक होती है। और समय में प्रथम तो दूध पीने के समय को छोडकर बालक का प्रत्येक समय माता के पास रहना उपयुक्त ही नहीं। यदि कार्य वश ऐसा न होसके तो माता को चाहिये कि बालक को दूध पिलाकर उसका मुह

दूसरी तरफ करदे–अपनी तरफ से मुंह फेरदे। खाट भी इतनी बड़ी होनी चाहिये जिसमें माताके सोने से भी बालकके सोने के लिये यथेष्ट जगह बाकी रहे। बालक के पैरों से छाती तक एक हलका कपड़ा पड़ा रहना चाहिये। जिससे मक्खी मच्छर से बराबर बचाव बना रहे। पर यह कपड़ा बालक के मुंह पर न आना चाहिये। कपड़ा फटा न होना चाहिये, कभी कभी फटा कपड़ा बालक के गले में या हाथ पेरों में अटक कर उसे दु:ख पहुचाता है। बालकके सिरके नीचे बहुत हलका पतला तकिया लगाना चाहिये, जिसमें उसकी गरदन ऊची नीची रहके मोच न खाजाय। बालक के सोने की खाट खूब तनी होनी चाहिये। ढीली रहने से बालक नीचे की तरफ खसक कर प्राय. माता के नीचे भी दब जाया करता है।

इससे भिन्न बालकों की और बातों पर भी माता का ध्यान होना जरूरी है। बालक को खेलने के लिये छोटे खिलौने या गोलियाँ न दी जाँय। जिनको मुंह में डालकर उसे मार्णान्त कष्ट झेलना पड़े। आटा पीसते समय या झाड़ू देते समय बालक को कभी पास न रखना चाहिये। उड़ता हुआ बारीक आटा और गरदा बालक के फंफड़ों को खराब कर देता है। किसी समय बालक को खिलाने का भार किसी छोटे बालक पर न देना चाहिये, जिसमें वह उसे सभाल न सके। बालक के बिछौने एकबार प्रतिदिन धूप में सुखा लेना चाहिये, इससे

से कपड़े निर्दोष हो जाते हैं। एक वर्ष से अधिक अवस्था वाला प्रत्येक वालक एक अहोरात्र में चारवार और दो वर्ष की अवस्था वाला तीन वार सोता है। फिर वही वडी अवस्था में दो तथा एक वार सोने लगता है। इसी प्रकार अवस्था वड़ी होते होते निद्रा कम आने लगती है। माता को चाहिये कि जब वालक दिन भर में दो वार सोता हो तो उसके सोने का समय ऐसा कर देना चाहिये जिसमें उसके भोजन का समय नियमित हो सके। ७-८ वर्ष के वालकके लिये वारह घण्टे की नींद काफी होती है। उपर्युक्त निद्रा पाकर इतने समय में वालक अवश्य उठता है, अत• जिस अवसर पर जगे उसे चैतन्यकर देना चाहिये। वहुत थोड़े समय में वालक को कभी न जगाना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार उसकी निद्रा भङ्ग करने से कभी कभी वालक का स्वास्थ्य विगड जाता है।

वालक के सोते समय दीपक की ज्योति उसके नेत्रों के सामने न होना चाहिये। यदि उस समय उस स्थान में दीपक न रहे तो कोई हानि नहीं। अँधेरे स्थान में निद्रा अच्छी प्रकार आती है और वालक को भय भी नहीं मालूम होता। जिन वालकों को दीपक या विजली की रोशनी में सोने का अभ्यास डाला जाता है, वे दिल के कमजोर होते हैं। ऐसे वालकों को अँधेरे में प्राय डर लगा करता है।

. बहुत सी मातायें बच्चों को किसी बात से रोकने के लिये प्रायः भय दिखाया करती हैं, नकली भूतों या कृत्रिम नामों से बालकों को डराती हैं, उनका यह अभ्यास बहुत बुरा है। इस से बालकों की सहज निर्भीकता नष्ट होती और वे डरपोक बनते जाते हैं।

बालकों के स्वास्थ्य के लिये विशुद्ध खुली वायु का भ्रमण भी अच्छा लाभप्रद है। यह काम हमारे देश में प्रातःकाल और सायङ्काल किया जाना अच्छा है। जिस प्रकार खुली हवा पाकर फूल खिलते हैं उसी प्रकार बच्चों का शरीर भी खुली हवा पाकर विकसित होता है।* पर इतना जरूर ख़याल रखना चाहिये कि जब अन्धकार चलता हो, तेज सरदी या धूप पड़ती हो, लुयें चलती हों ऐसे समय में बालक को भ्रमण न कराना चाहिये।

बहुत छोटे बालक को सुलाने का भी एक नियम जाने रहना चाहिये, जिससे बालक को कभी हानि न पहुंचे। एक महीने तक के बच्चे को मुलायम, गुलगुली गद्दी पर सुलाना चाहिये। क्योंकि बालक के सभी अङ्ग प्रत्यङ्ग अधिक कोमल होते हैं। जब तक बालक तीन मास का नहीं होलेता तब तक इसके पृष्ठवंश में (रीढ़ में) ताकत नहीं होती, इसलिये तीन मास से कम उमरवाले बच्चे को धरतीमें नहीं बिठाना चाहिये न उसे खड़ा ही करना चाहिये। ऐसा करने से बालकों की

पीठ में कुरय निकल आताहै। या कमर खम खाकर वे कुबड़े होजाते हैं। ऐसे बालकों को दोनों हाथों से खूब संभाल कर रखना चाहिये। एक खुला हाथ बालक की पीठ और मस्तक के नीचे रहे और दूसरा हाथ उसके कूल्हे और जाँघ के नीचे रहे। यदि उसे हलाना झुलाना हो तो इसी प्रकार हाथों में रखकर इधर उधर हलाना झुलाना चाहिये, नीचे ऊपर उछालना ठीक नहीं। कुछ मनुष्य बालकों को एक हाथ पकड़ के या चाहे जिस प्रकार ऊट पटांग उठा लेते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं, इससे कभी कभी नुकसान हो जाता है। देखा है कि कई बालकों के हाथ एक बार स्थानच्युत होकर बड़ा दुःख मिला है और फिर बार बार ऐसा होने से उन्हें बहुत काल तक हाथों से कच्चा बना रहना पड़ा। बचपन में बच्चों के हाथ पैर इतने कमजोर और उनके जोड़ इतने शिथिल होते हैं कि उन्हें यथोचित रूप से हला चला नहीं सकते। ज्यों ज्यों उनके हाथ पैरों के जोड़ मजबूत होते जाते हैं त्यों त्यों वे हाथ पैर खुद चलाने लगते हैं। चार महीने की अवस्था के लगभग बालक खटिया पर पडे पड़े अपने हाथ पैर हला हला कर उन्हें सशक्त करते हैं, फिर बैठकर हाथ हिलाते हैं। कुछ मास बाद वे पैरों को सभाल कर उचकते या फूलों के बल घसिटने का अभिनय कर पैरों को सबल करते हैं। एक वर्ष की अवस्था में (यदि वे निर्बल न हुये तो) कुर्सी, दीवाल या अन्यान्य चीजें पकड़

पकड़कर चलने लगतेहैं। यह सब उनकी प्राकृतिक क्रियाहै, जिसे वे स्वास्थ्यावस्था में स्वयं सम्पादन करते हैं। ऐसे कामों से बालकों को कभी रोकना नहीं चाहिये। पर यह संभाल जरूर रखनी चाहिये कि वह अग्नि जल या और खतरनाक चीजों से बचा रहे।

बालकों को जब चलाने का अभ्यास डालना हो तो सबसे अच्छा ढङ्ग यह होगा कि उसके दोनों हाथों की बगल के नीचे अपनी हथेलियाँ लगा दो और चलाओ। जब वह एक या दो कदम चलकर पैर उठाने को या धरने को हो तब अपनी हथेलियों को जरा ढीला कर दो, इससे वह सहारा न पाकर कुछ थोड़ा सा लड़खड़ायेगा, पर फिर उसे साध लो। इस प्रकार चलाने में सबसे अच्छाई यह है कि बालक को अपने शरीर का वजन समान भाग बनाये रखने का अभ्यास शीघ्र पड़ जाता है और यही चलने के अभ्यास का मूल सूत्र है। बालकों को चलना सिखाने के लिये इससे भिन्न लकड़ी, मकानों के जंगले, देहली, रड्ड, गाड़ी आदि साधन हैं, पर, ये सब सहारा मात्र देते हैं। जल में तैरना सिखाने को भी पहिला साधन विशेष उपयुक्त है। सिखाने वाला कमर के बराबर जल में खड़ा होकर सीखने वालेकी छातीके बल अपने हाथों पर लिटाले। सीखने वाले से कह दे कि वह हाथों से पानी को अपने बगल के नीचे से निकालता रहे और बीच बीच में तैरना सीखने वाले को बोझा साधने की शिक्षा देने के लिये अपने हाथों को नीचे गहरे जल में डुबोता रहे। इस प्रकार तैरने वाला बार बार झोंके खाकर जल पर शरीर साधने का ढङ्ग सीख जाता है।

यच्चों के जीवन में दाँत आने का भी एक विशेष ध्यान देने योग्य अवसर है, यह अवसर दोवार आता है, पर, पहिला अवसर कठिन होता है। बालकों के पहिले जो दाँत आते हैं उन्हें दूधके दाँत कहतेहैं, और दूसरे दाँतोंको अन्नके दाँत कहते हैं। दाँतोंका यह नाम करण दूध और अन्नके आहारके कारण किया जाता है। दाँतों के निकलने का अवसर निश्चित नहीं है। किसी बालक के जन्म के समय में ही १। २ दाँत देखे जाते हैं। पर, किसी को आठवें महीनेमें दाँत निकलने आरम्भ होते हैं। तथापि कुछ अनुमित समय में कुछ थोडा आगे पीछे जरूर निकल आते हैं। आगे के कोष्ठकों में दोनों प्रकार के दाँतों का हिसाब दिखाया गया है। दोनों दाँतों के निकलने का अवसर प्राय ऐसाही देखा जाता है।

दूध के दाँत निकलने का अवसर।

क्रम	दाँतों के नाम	निकलने का समय
१	सामने के दो दाँत	५ से ८ महीने तक
२	आजू बाजू के चपटे दाँत	७ से १० महीने तक
३	दोनों तरफ के खूटे	१४ से २० महीने तक
४	अगली दाढ़	१२ से १६ महीने तक
५	पिछली दाढ़	१८ से ३६ महीने तक

बच्चे के दाँत निकलने का अवसर।

क्रम	दाँतों के नाम	निकलने का समय
१	आगे की दाढ़	७ वर्ष
२	सामने के दाँत	८ वर्ष
३	अजू बाजू के चपटे दाँत	९ वर्ष
४	आगे की दो दाढ़	१० वर्ष
५	पिछले दो खूंटे	११ वर्ष
६	आगे के दो खूंटे	१२ से १२॥ वर्ष
७	बीच की दो दाढ़	१२॥ से १४ वर्ष तक
८	पीछे की दो दाढ़	१८ से २५ वर्ष तक

बालकों के दाँत निकलते समय माताओं को बड़ी चिन्ता करनी पड़ती है। उस समय बालक का आहार घट जाता है और उसे अनेक रोगों का सामना करना पड़ता है। ऐसे समय में बालक को किस प्रकार दाँत निकलते हैं और किस प्रकार उसे रखना चाहिये यह बता देना आवश्यक है।

सबसे पहिले नीचे की पाँति में सामने के दो दाँत निकलते हैं। इससे पीछे उसी के मुकाबले में ऊपर के दो दाँत निकलते हैं। उससे पीछे इनके सहायक आजू बाजू के दो दो दाँत

निकलते हैं। इन आठों दाँतों से बालक फल या अन्न के ग्रास को, काटने का काम करता है। इसके पीछे आगे की चार दाढ़ और अगल बगल के चार खूंटे निकलते हैं, जिनसे बालक ग्रास को चबाने और दबाने का काम करता है। पीछे चार दाढ़ निकलती हैं, जिनसे आहार को बारीक चबाकर पेट में डाला जाता है। ये सब दूधिया दाँत कहलाते हैं। कुछ वर्ष में ये सब गिरकर इनकी जगह दूसरे दाँत निकलते हैं जो बहुत दिन स्थायी रहते हैं। लोग उन्हें अन्न के दाँत कहते हैं। ये स्थायी दाँत छठे, सातवें वर्ष से आने लगते हैं। इनमें सबसे पीछे वाली दाढ़ जिसे लोग अक्ल की दाढ़ कहते हैं सबसे पीछे २५ वर्ष की अवस्था तक आती है। इस दाढ़ के निकलते समय मनुष्य को बुद्धि उत्पन्न होजाती है इसलिये उसे अक्ल की दाढ़ कहते हैं।

स्थायी दाँतों की संख्या ३२ होती है। कभी कभी ३० संख्या भी देखी जाती है। पर, यह भी अधिकतर जबड़े की छुटाई पर निर्भर है। इसी प्रकार दाँतों का चौड़ापन या गहरा और छीदा होना प्रकृति परनिर्भर है।

. जब बालक को पहिले दाँत निकलने आरम्भ हों तब उस के मस्तक को ठण्डा रखना चाहिये। बालक के मस्तक पर यदि बाल बड़े हों तो उन्हें कैंची से छोटे करा देना चाहिये

और शीत समय न हो तो उसे नगे शिर रखना चाहिये। ऐसे समय यदि कोई जल मोंगरा आदि से बना धूप्य तैल शिर में लगाया जाय तो और भी अच्छा है। बालक के वस्त्र इस समय ढीले होने चाहियें, जिससे उसे गरमी न सतासके और बालक यथेच्छ रूप से हाथ पैर हिलासके। भोजन भी गरम न खिलाना चाहिये। केवल दूध पिलाना अच्छा है। यदि समय गरमी का हो तो बालक को गरमी से विशेष रूप से बचाना चाहिये। नहीं तो उसे ज्वर आने का भय रहेगा।

ऐसे समय बालक को कब्ज मालूम होतो दिन में एकबार जन्मघूटी देना चाहिये। यदि पाचन-दोष मालूम हो तो दूधियाबच और अतीस का चूर्ण ३।२ रत्ती की तादाद से दिन में दो बार शहद में चटाना चाहिये। दाँत निकलते समय बालकों को पाचन-दोष होकर कै (दूध पटकना) और दस्त आने लगते हैं, पर, औषधि करते रहना चाहिय और इनकी चिन्ता न करनी चाहिये।

कुछ चिकित्सकों की राय है कि इस समय बालकों के जबड़ में अंगुली स रगड़ते रहना चाहिये, अथवा रबड़ या ऐसीही कोई कड़ी चीज बालक को चबाने को दनी चाहिय जिससे दाँतों का निकास शीघ्र होता है। इस अवस्था में यदि पुष्ट हो तो उसे कूदन का अभ्यास सिखाना चाहिये,

कूदने के अभ्यास से भी दाँत निकलने में प्राय. सहायता मिलती देखी गई है। दन्तोद्भेद रोग जो कि दाँत निकलते समय होते हैं कमजोर बालकों को बाधक होते हैं। अतः बालकों को बहुत कुछ बचाने का एक यही प्रयत्न करना विशेष अच्छा होगा कि उन्हें सबल बनाये रखना चाहिये।

बालकों के लिये दूसरा कष्ट का अवसर वसन्तरोग (माता शीतला या चेचक) है, इसके निकलने का अवसर नियमित नहीं है। किसी बालक को किसी अवस्था में, किसी को किसी अवस्था में निकलती है। यह रोग प्राय वसन्त ऋतु में होता है। एक बालक के होते ही संक्रामकता के कारण अड़ोस पड़ोस के बालकों के भी हो जाता है। पहिले यह रोग प्रायः मारक होता था, पर, अब उतना मारक नहीं होता। इसकी रोक के लिये जेनर साहब का टीका अच्छा प्रतिषेधक उपाय है। इससे वसन्तरोग का विशेष भय नहीं रहता। जिन्हें इस रोग पर देवता की भावना है उन्हें हम कुछ नहीं कहना चाहते। पर हम इसे रोग मानते हैं। देखा भी आता है कि जो इस रोग का प्रतीकार नहीं कर पाते, वे बच्चों को नेत्र, नासा, कर्ण, वाणी हीन ही नहीं जीवनहीन तक कर डालते हैं। अबोध बच्चों पर यह पूरा अत्याचार है।

जिन्हें टीका लगवाना हो उन्हें भी समय पर टीका लगवाना चाहिये। असमय का टीका लगवाना अच्छा नहीं।

टीका लगवाने के लिये जाड़े का समय विशेष अच्छा है, इसमें बालक को विशेष कष्ट नहीं होता। दूसरा समय बालक की तीन मास की अवस्था है। पहिले समय में टीका लगवाने से आगामी बसन्त में रोग का भय नहीं रहता और दूसरे समय पर लगवाया जाय तो दाँत निकलने के समय तक बालक बलिष्ठ हो जाता है। फिर उसे दाँत के रोगों के लिये भी विशेष बाधा नहीं होती।

बालकों की मृत्यु–संख्या एक वर्ष के भीतर बहुत अधिक होती है और यह बात यद्यपि सर्वत्र के लिये है तथापि भारत में यह संख्या बहुत अधिक है। इसका कारण देश की दरिद्रता, रोगों की अधिकता, और बालकों के भरण पोषण के यथार्थ ज्ञान का अभाव है। बड़ी अवस्था में जब फी हजार २५ पुरुषों की मृत्यु होती है तो एक वर्ष के भीतर २०० छोटे बालक मृत्यु मुख में पतित होते हैं। यह मृत्यु–संख्या छ मास के भीतर और भी अधिक होती है। भारत में वर्तमान समय में यह मृत्यु संख्या फी हजार ३०० से ऊपर होजाती है। व्याधि ग्रस्त मातापिताओं की संतान बहुत छोटी अवस्था में मरती हैं। क्यों कि अनेक रोगों का संक्रामक विष बहुत छोटी अवस्था में ही मारक असर करता है।

बालकों को जो व्याधियाँ होती हैं वे कुछ तो जन्मज होती हैं, कुछ शरीर गठन की, कुछ स्वाभायिक, कुछ आहार परिणाम की और कुछ प्रज्ञापराध की। इन व्याधियों के लिये व्याधि-कारणों या पीडाओं का निराकरण करना ही मुख्य चिकित्सा है। अगले भाग में हम संक्षेप में इन व्याधियों का वर्णन करेंगे और चिकित्सा का भी दिग्दर्शन करेंगे। आशा है कि चिकित्सक-गण उस के अनुसार चिकित्सा करके अबोध बालकों का कष्ट निवारण करेंगे।

कुमार–कल्याण वटी।

बालकों को जो बात बात में कमजोरी कफ, खाँसी, दस्त, कै, बुखार, पसुली, पेट की खराबी, सरदी गरमी से अनेक व्याधियाँ होजाती हैं, उन्हें नष्ट करने की यह अनुभूत दवा है। एक महीने के बच्चे से ५ बरस की उमर के बच्चे तक को दी जाती है। बाल-बच्चेवाले इसे बडी चाह से घरमें रखते हैं, जिससे उनके बच्चे तकलीफ से बचते हैं और वे फजूल खर्च से। ३०० गोली की डब्बी का दाम १)

जगद्भास्कर औषधालय

नयागञ्ज,—कानपुर

रोग-परीक्षा ।

किसी भी रोग की जब चिकित्सा करनी होती है तब चिकित्सक को उसकी परीक्षा करनी होती है। यथार्थ रोग-ज्ञान किये बिना रोग का दूर करना बिलकुल असम्भव है। बड़े पुरुषों की रोगपरीक्षा जितनी सरल है बालकों की रोग-परीक्षा उतनी ही कठिन है। बड़े आदमी से आप जो प्रश्न करेंगे उसका उत्तर मिलेगा, पर बालक उन में से किसी बात का उत्तर न देसकेगा। फिर बड़े आदमियों के रोगों से बालकों के बहुतसे रोग भिन्नही होते हैं, जिन के लिये प्रत्येक चिकित्सक को अपनी भिन्न प्रकार की योग्यता सम्पादित करनी पड़ती है। चिकित्सक अपनी योग्यता से बालकों के बहुतसे रोगों को उनकी आकृति प्रकृति से और पोषकों के कहने सुनने से अनुमान करता है। बालकों के अङ्ग प्रत्यङ्ग की परीक्षा उस प्रकार होना असंभव है जैसे कि बड़े पुरुषों की। आप को जिव्हा देखनी है, क्या छोटा सा बालक आप की आज्ञा पातेही जीभ निकाल देगा? कदापि नहीं। ऐसी दशा में यदि बालक रोता है तो वह मुंह फाड़कर रोता है, इसलिये टेढ़े सीधे होकर या झुक कर चट पट जीभ देखलीजिये। यदि बालक रोता नहीं और मुंह भी नहीं खोलता तो उसे किसी चीज के खिलाने के बहाने मुंह खुलाइये और चट से जीभ देख लीजिये।

इस प्रकार बालक को बहला चुपला कर, खिलौना देकर किसी प्रकार भी उस के अङ्ग प्रत्यङ्ग और रोग की परीक्षा की जासकती है। इस कार्य के लिये कोई विधि विहित नियम निर्णीत नहीं होसकता। वास्तव में चिकित्सक को बालक के निदान-निर्णय में बालक की प्रकृति, समय और चेष्टाओं को देखकर बड़े अध्यवसाय से काम लेना पड़ता है। जहाँ पर पीड़ा विशेष होती है वहाँ पर सोतेहुये या सम्मोहनविधि से अचेत किये हुये बालक की परीक्षा करनी होती है। सोतेसमय बालक की रोग-परीक्षा सहज और ठीक होती है। उस समय देखना चाहिये कि बालक को श्वास कैसा आता है? उस के अङ्ग प्रत्यङ्ग किस भाव से, किस ओर, कैसे रक्खे हुये हैं? अमुक स्थल में पीड़ा या रोग होनेसे ही बालक इस आकृति में सोता है या अन्य कारणवश। बालक के मुख का वर्ण, चैतन्यभाव और प्रभा कैसी है, ओष्ठ सूखे हैं या सरस, देह के चर्म की क्या व्यवस्था है, सूजन कहाँ कहाँ है, श्वास रुककर आता है; श्वास निद्रा का है या बेहोशी का, छूने से वह रोता है या चमक उठता है, सोते समय दाँत किरकिराता है या नहीं, आँखें ठीक बंद हैं या नहीं, बार बार करवट बदलता है या नहीं, ऐसी बातें बालक के सोते समय अच्छी प्रकार जानी जासकती हैं।

नाड़ी पर अँगुली रखकर उसकी गति का भी ध्यान पूर्वक निरीक्षण करना चाहिये। नाड़ी कैसी चलती है, किस दोष की चलती है; परिमाण से अधिक चलती है, या न्यून, उष्ण है या शीत? जबतक बालक को सोते समय परीक्षा की जाय तबतक उसे जगाने का जरा भी प्रयत्न न किया जाना चाहिये। कुछ मनुष्यों (या माताओं) का नियम है कि वे चिकित्सक को देखतेही सोते हुये बालक को फौरन जगाकर दिखाने को दौड़ते हैं, पर यह बात मूर्खतापूर्ण है। सोते समय परीक्षा में जो सुविधा होती है वह जागने पर या एकाएक जगाने पर नहीं होती।

यदि जगाने की आवश्यकता हो तो उसे बहुत धीरे धीरे जगाया जाय और जगते समय उसके चेहरे की उदासी या बेचैनी, नेत्रों का भाव, नासिका की तरी या खुश्की, और स्वर की दशा पर ध्यान देना चाहिये।

यदि शरीर की परीक्षा करनी हो तो बालक के कपड़े हटा कर चर्म का रङ्ग, गरमी सरदी, फोड़े फुंसी, शोथ, मलमूत्र-द्वार, सन्धि (जोड़ों) और जोड़ों की ग्रन्थियों की दशा पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

मुख के भीतर देखना हो तो अपने सामने बालक की माता को बैठाकर उसकी गोद में बालक को लिटा दे और दोनों

हथेलियों से बालक की कनपटियों को थामले। यह काम, माता करे या चिकित्सक, दोनों कर सकते हैं। अब बालक इस प्रकार वश में हो जाय तब उसके मुख में अँगुली डालकर दाँत मसूढ़े जिव्हा और मुंह के छाले आदि की परीक्षा की जा सकती है। इस परीक्षा में बालक के निश्चल हो जानेसे परीक्षा सहज में हो जाती है। यदि बालक विशेष चञ्चल और बलिष्ठ हो तो उसके हाथ पैर पकड़ने के लिये तीसरे मनुष्य की भी जरूरत पड़ती है।

रोगी के फुफ्फुसों की परीक्षा की आवश्यकता हो तो ठोक पीटकर देखने से प्रथम कानों से उसके शब्द का ज्ञान कर लेना विशेष अच्छा है। शब्दतीव्र हो तो फुफ्फुसों के पास कान लेजाकर, या अँगुली टेककर परीक्षा कर लेनी चाहिये। पर शब्द मन्द हो तो आकर्णनयत्र (ऐथिस्कोप) द्वारा यह परीक्षा सहज में हो सकती है। यत्र द्वारा परीक्षा करनी हो तो—यत्र चाहे पीठपर लगाया जाय चाहे छाती पर—रोगी को बैठाकर या करवट से लिटाकर परीक्षा करना उत्तम है। औंधा लिटाने से पेट दबकर रोगी की श्वासक्रिया विकृत हो जाती है और सीधा लेटा रहने से भी कुछ दबजाने से फुफ्फुसों का शब्द यथार्थ नहीं मालूम होता। यत्र भी ऐसी जगह लगाया जाय, जहाँ से फुफ्फुस पास पड़ें। यत्र के व्यवधान में पसुली की हड्डियाँ न आजायँ, नहीं तो शब्द का यथार्थ ज्ञान ही न होगा।

जिस प्रकार रोगी अपनी वर्त्तमान दशा में यथेष्ट श्वास प्रश्वास लेता रहे उसी प्रकार परीक्षा करना सर्वोत्तम है।

यंत्रकी अपेक्षा खाली और ठोसपन जानने के लिये अंगुलियों से ठोककर शब्द जानलेने की विधि सुगम और अच्छी है। पर जरा होशियार बालक ठोंकने की गति देखकर घबरा भी सकता है। वैसी दशा में वह भयभीत हो, टेढ़ा मेढ़ा हो या चिल्ला उठे तो वह क्रिया निष्फल होजाती है। रोने में भी यह क्रिया निष्फल होजाती है। ऐसी दशा में आकर्णन यंत्र द्वारा परीक्षा करना ही ठीक है। यदि बालक रोनेही लगजाय तो उसे बहलाना चाहिये। कदाचित् वह न बहल सके तो जब जब वह रोते समय बीच में श्वास ग्रहणकरे, तब तब यंत्र से उस का श्वास-शब्द सुनना चाहिये।

जिस आकर्णन यंत्र का नाम हम ऊपर देआये हैं वह बड़े शहरों की डाक्टरी दुकानों में प्रायः ऐथिस्कोप कहने से मिलते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं। दो-नलीवाला अच्छा होता है और वह ४-५ रुपये में मिलता है। इस यंत्र द्वारा श्वासों की गिनती करली चाहिये। प्रायः बालक को प्रति मिनट में-जन्म समय ३२ से ३६ बार और कुछ दिन बाद २८ से ३० बार तक श्वास आता है। कभी कभी इस गणना में फर्क भी पड़जाता है। आप देखेंगे कि कुछ बालक स्वेच्छासे कभी कभी आधी

मिनट तक श्वास को रोकलेते हैं और बाद में जल्दी जल्दी श्वास लेने लगते हैं। यदि दैवात् यही घटना परीक्षा के समय घटी तो श्वास की संख्या का यथार्थ ज्ञान होना असंभव है।

बालकपन में जिस प्रकार श्वास की संख्या विशेष होती है उसी प्रकार दिल की धड़कन और नाड़ी की गति भी अधिक होती है। कभी कभी बालक चिकित्सक या अजनबी आदमी को देखकर भय खाता है। ऐसी दशा में नाड़ी और भी अधिक चलने लगती है और ऐसी दशा में उसकी संख्या भी नियमित नहीं रहती। इससे चाहे श्वास-परीक्षा हो चाहे नाड़ी-परीक्षा दोनों ही बालक के सोते समय करना विशेष उपयोगी है। जन्म से कुछ मास तक नाड़ी की चाल प्रति मिनट १२० से १४० तक रहती है और दूसरे वर्ष १०० से १२० तक। इसी प्रकार ज्यों ज्यों बालक की अवस्था बढ़ती है त्यों त्यों नाड़ी की गति और श्वास की संख्या कम होती जाती है। किसी किसी रोग में इससे व्यतिक्रम भी हो जाता है। जैसे-दाँत निकलते समय नाड़ी की गति संख्या का कम होना। क्षय के आरम्भ में नाड़ी की गति कम होना, परन्तु क्षय की दशा में उसी का द्रुत गति होना अथवा विषमगति होना। यह दशा स्वस्थावस्था में नहीं होती। तब भी नाड़ी या श्वास-संख्या की न्यूनाधिकता से रोग परीक्षा में बहुत बार विशेष सहायता मिलती है, यह बात आगे निदान में प्रायः वर्णन की जायगी।

तन्दुरुस्ती में श्वास-सख्या से नाड़ी की संख्या प्राय. ३½ या ४ गुनी रहती है। पर किसी समय रोग-विशेष में कुछ काल के लिये यह नियम टूट जाता है। यदि श्वास-सख्या ६० हो और नाड़ी की चाल प्रति मिनट १२०-१४० हो जाय तो समझना होगा कि रोगी को श्वास की पीड़ा है। स्मरण रखना चाहिये कि वक्षोविकृति, अस्थि-विकार स्नायवीय पीड़ा आदि में प्रायः ऐसा हो ही जाता है। यदि श्वास-सख्या में अधिक, शीघ्रता से और कष्ट से हो तो समझना चाहिये कि बालक को फल्गु (इन्फ्लुएञ्ज़ा) कर्कोटक (न्यमोनिया) शीत कास (ब्रॉकाइटिस) या फुफ्फुसकला-विकार (प्लूरसी) आदि कोई भी फुफ्फुस-विकार है।

जरा सयोध बालक के हृत्पिण्ड की परीक्षा करना सहज काम नहीं है। बालक के विचलित या अधीर होने के कारण भी दिलकी चाल में अन्तर पड़ता है। आकर्णन यन्त्र से उसकी चाल का कुछ अनुभव किया जा सकता है, पर, वह भी धीरे से। यन्त्र को विशेष दबा देने से भी उसका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। अधिक दबने से यन्त्र केवल श्वासगति बताने के कारण सायँ सायँ करने लगता है।

कण्ठ की परीक्षा करनी हो तो कण्ठवीक्षण यन्त्र (लेरिङ्ग-स्कोप) से करना चाहिये। पर, बालकों की कण्ठ परीक्षा या-

यदही इससे होसके, क्योंकि उनका यन्त्र लगाने देनाही सर्वथा असम्भव है। इससे बालकों की कण्ठ-परीक्षा उनके रोने के शब्द या गले की आवाज़ से जान लेनाही सुकर है। मुंह खोल कर छोटी चम्मच का डण्डा या अंगुली से जीभ दबाकर भी गले की ओर कव्वे (जो भीतर गले में लटकता है) की परीक्षा कर सकते हैं, नाक पकडकर बालक का मुंह खुला सकते हैं। पर कभी कभी बालक की जिद के आगे ये सभी उपाय निकम्मे पड जाते हैं।

कभी कभी बालकों के फुप्फुसों या फुप्फुस-कला से एक अस्पष्ट और विचित्र शब्द निकलता है जो बड़े पुरुषों में नहीं पाया जाता। फिर छोटे छोटे बुलबुले फूटने का सा शब्द सुनाई देता है यह श्वास छोडते समय ही सुनाई देता है, श्वास लेते समय नहीं। जन्म से लेकर ३ वर्ष के भीतर बालकों की श्वास क्रिया पेटपर अधिक क्रियाशील रहती है। इससे श्वास लेते समय पँसुलियों के पास बालक के पेट में गड्ढा पड़े या कुछ तनाव हो तो उसे फुप्फुस-विकार समझना चाहिये। इसी प्रकार बालक के कपाल के अधिपति मर्मपर या छाती की धुक-धुकी पर भी ध्यान रखना चाहिये। इनमें यदि विशेष गड्ढा पडता हो तो बालक को विशेष कमजोर और क्षयाक्रांत समझना चाहिये।

यों तो शारीरिक ताप की परीक्षा नाड़ी-ज्ञान और शरीर

स्पर्श से ही की जा सकती है, पर प्रत्येक चिकित्सक तापमान यंत्र (थर्मामिटर) से भी कर सकते हैं। थर्मामिटर प्रत्येक हाथ पैर और गर्दन की संधि में लगाया जा सकता है। समझदार-बड़ी उमर वाले-बालक के मुंह में (जीभ के नीचे) भी लगाया जा सकता है। पर छोटे बालक के मुंह में न लगाकर गुदद्वार में लगाना विशेष अच्छा है। जन्म दिन के अहोरात्र में बालक का शरीर ताप १००—४ डिग्री रहता है, दूसरे दिन ६८—६ डिग्री हो जाता है। फिर यह स्थायी होकर ६८ से ६६-५ तक प्रायः रहता है। यह परिमाण स्वस्थ अवस्था का है। बीमारी की हालत में यह बढ़ जाता है।

बालकों की मूत्र-परीक्षा होना असम्भव है। क्योंकि उनके मूत्र के समह का कोई उपाय ही नहीं। बड़ी आवश्यकता हो तो चतुरता से मूत्र शलाका द्वारा ग्रहण किया जा सकता है पर बालिकाओं के शलाका द्वारा प्रयोग न कर स्पञ्ज के टुकड़े को जननेन्द्रिय के पास लगा रखना चाहिये और मूत्र कर देने पर उसी स्पञ्ज के टुकड़े से मूत्र निकालकर वर्ण आदि देख लेने चाहिये।

इसी प्रकार बालकों की मल-परीक्षा भी जरा कठिन है। बालक बिछौने में मल परित्याग करते हैं, तत्काल ही मूत्र कर देते हैं इससे उनका भिन्न भिन्न रखना और परीक्षा करना

स्वर का ऐंठना इत्यादि से कई बार रोग परीक्षा हो जाती है। सोते समय ऐंठना या हाथ पैरों को पेट की ओर सिकोड़ना पेट के दर्द का चिन्ह है। जो बालक समझदार है उसका कोई भी अङ्ग स्पर्श करके पूछा जा सकता है कि उसे कहाँपर दर्द मालूम होता है। पर यह बात भी कभी कभी विफल पड़जाती है, सिरके दर्द में बालक पेट का दर्द बताने लगता है। किसी स्थल को छूकर यदि पूछाजाता है कि यहाँ दर्द है ? तो उत्तर मिलता है-' हाँ है , पर जरा देरमें पूछो कि यहाँ दर्द तो नहीं है तो कहता है-' नहीं है , ऐसे समय की समस्या चित्त का विश्वास नहीं दिला सकती। इससे ऐसे समय बड़े अध्यवसाय से काम लेना चाहिये। यदि सोते हुये बालक का अङ्ग दबाकर दर्द की परीक्षा की जाय तो विशेष अच्छा है।

सोते समय छोटा बालक अपने हाथों पैरों को ऊपरी तरफ सिकोड़कर सोता हो तो समझना चाहिये कि यह उसका स्वाभाविक शयन है। क्योंकि यह ढङ्ग उसका गर्भ-काल में सीखा हुआ है। और ढङ्ग से यदि बालक सोता हो तो उसके किसी प्रकार के रोग की सम्भावना हो सकती है।

शुश्रूषा ।

रोगावस्था के समय बालकों की सेवा शुश्रूषा करने के लिये होशियार आदमी की आवश्यकता है। जो बालक की स्वाभाविक बातों से खूब वाक़िफ हो, बालक जिसके लालन पालन से प्रसन्न हो, बालक को हँसाकर, बहकाकर या धमका-कर जो औषधि या आहार का उपयोग करा सके और बालक पर प्रेम रखता हो वही व्यक्ति इस सेवाकार्य के लिये विशेष उपयुक्त माना जा सकता है। यद्यपि ये सद्गुण विशेषतया माता पिता में ही मिलते हैं, परन्तु कभी कभी प्रेम की अधिकता के कारण उनके यथार्थ सेवक भाव दूर हो जाते हैं। अधिक प्रेम रखने वाले माता पिता बालक के दुःख से अधिक कातर होकर दवा देना, पथ्य देना, मलहम पट्टी कराना भूल जाते हैं, या करते तक नहीं। यह प्रेमातिरेक रोगी बालकों के लिये कभी कभी तो प्राणघातक तक हो सकता है। इस लिये बालकों की रोगावस्था में दूसरा व्यक्ति ही सेवा शुश्रूषा करे तो विशेष अच्छा हो सकता है।

सेवक के लिये नीचे लिखी बातों का परिज्ञान होना बहुत ही ज़रूरी है।

१-बालक का स्वभाव कैसा है।

२-रोगकी क्या दशा है। दिन रात्रि में बालक की कौन कौन दशा परिवर्त्तित होती है।
३-बालक किस प्रकार औषधि अथवा आहार का उपयोग सुख से कर सकता है।
४-बालक की स्वभावप्रिय कौन कौन वस्तु हैं।
५-बालक सुख से किस प्रकार सो सकता है।
६-चिकित्सक रोगी के लिये क्या क्या हिदायतें बतला गया है, उनका सदुपयोग और फलाफल पर ध्यान रखना।
७-चिकित्सक से सभी बातें ठीक ठीक बता देना।
८-आवश्यक बातों के विषय में चिकित्सक से पूछ लेना।

इन सब बातों के अतिरिक्त बालकको अधिक वायु, अधिक धूप, रोशनी या ठण्ढ की जगह न रखना। मुंह खुला रखकर सुलाना। उस मकान में कोई तीव्र शब्द न होने देना। पथ्य देते समय यह विशेष रूप से ध्यान रखना कि यह पथ्य बालक हजम कर सकेगा या नहीं। बालक के कपड़े—चाहे वे मल मूत्र के लिये ही बिछाये जाते हों—सदा स्वच्छ होने चाहियें। मैले कपड़ों का प्रयोग करना भी बालक के रोगों का एक प्रकार अवसर देना है।

पथ्यापथ्य।

बालकों का प्रधान पथ्य दूध है। उससे उतरकर अन्न की कोई मुलायम बनी हुई चीज खिचड़ी आदि दी सकती है।

साधारणतः इस विषय में हम प्रथम ही लिख आये हैं। यह लिखना उसके लिये पिष्टपेषण मात्र है। रोगावस्था में जैसा भी अवसर हो, पथ्य की विशेष आज्ञा चिकित्सक से ले लेनी चाहिये। रोगावस्था में–सागूदाना, दूध, खिचड़ी, लाजमण्ड, मुद्गमण्ड प्रायः दिये जा सकते हैं। पर कौनसा पथ्य बालक को उस समय देना उचित होगा, यह बात वर्त्तमान चिकित्सक निर्धारित कर सकता है। तथापि रोगावस्था के विशेष अवसरों पर आगे चलकर कहीं कहीं हमें उचित जचेगा तो विशेष व्यवस्था भी लिखेंगे, उसपर पाठकों को अवश्य लक्ष्य रखना चाहिये।

संक्षिप्त

निदान और चिकित्सा।

सद्योजात रोग।

बालक के जन्म के समय प्रसूति के दश दिनों के भीतर जो रोग हो उसे सद्योजात कहते हैं।

अकालजन्म।

जिस बालक का गर्भकाल पूर्ण न हुआ हो, उसके जन्म

को अकालजन्म कहते हैं। अकालजन्म में बालक अनेक रोगों से युक्त और जीवन-शक्तिहीन पैदा होता है। अकालजन्म में बालक के शरीर का वजन स्वाभाविकता से कम (तीन पाव से कम) होता है। समय की न्यूनता से उसमें कभी कभी अङ्ग प्रत्यङ्गों की कमी या विकृति और जीवन-शक्तिहीनता होती है। जैसे-८ मास के बालक का जन्म संदेहयुक्त होता है। इसी प्रकार यदि जन्म के समय बालक यथार्थ स्वर से रो न सके, उसकी नाड़ी न चलती हो, सुस्त और चुप चाप पड़ा रहे, बहुत ही कमज़ोर श्वास लेता हो, दूध पिये ही नहीं, शरीर की गरमी ८२-८ से ८६ डिग्री ही रखता हो, मुंह सूखा, चेष्टा-मुखप्रभाहीन हो, जिसके नख, चर्म, मलद्वार, जननयंत्र विकृत हों उस बालक का जीवन शक्तिहीन समझा जाता है। किन्तु ऐसी दशा में जन्म होते ही बालक को यथाशक्ति साफ करके रुई के गालों या फलालेन आदि में लपेट कर सुरक्षित रूप से रखना चाहिये। यदि वह मुखसे दूध न ले तो यन्त्र द्वारा नासिका से दूध पहुंचाया जा सकता है। इस प्रकार जिस प्रकार बने उसकी जीवन रक्षा करनी चाहिये, किन्तु इतने पर भी जीवनशक्तिहीन बालक का जीवन रक्षित होना प्रायः मुशकिल पड़ जाता है।

नाभि-रोग।

नाभिनाल काटने की असावधानी, कादंभे वाले यंत्र शस्त्रों

की खराबी, जलसयोग आदि अयथोपचार या ऐसे ही कारणों से बालकों के नाभिशुण्ड, नाभिपाक, नाभि-स्राव, नाभि-व्रण, आदि रोग पैदा होते हैं। नाभि काटते समय यदि नाल खिंचता है तो नाभि गभीर न होकर बाहर निकल आती है और वह हाथी की सूंड की तरह बाहर लटकी रहती है, उसे नाभि शुण्ड कहते हैं। नाभि नाल काटने पर यदि उसके सुखाने का प्रयत्न पूरा न हुआ हो तो नाभि-पाक आरम्भ होजाता है और कुछ काल में इसी के संक्रामक विष से नाभि-व्रण होजाता है। कभी कभी नाभि से इस प्रकार पाक होकर मवाद नहीं, रक्त बहने लगता है, या पीला पीला पानी सा अथवा पीपही बहने लगती है तो इसे नाभिस्राव कहते हैं।

नाभिशुण्ड में नाभि को हाथ से दबाकर-यथास्थान बैठा कर एक गद्दी रखकर पट्टी बाँध देना चाहिये। अथवा नाभि बैठाकर उसपर यदि स्राव मालूम हो तो पठानीलोध और सज्जीखार का बहुत बारीक चूर्ण भरकर पट्टी बाँध देनी चाहिये। यदि उसमें व्रण और सक्रामकता के कारण कुछ कृमिदोष मालूम होता हो तो कृमिघ्न चीजें-कर्पूर, वायविडङ्ग, कवीला, जस्ते की भस्म आदि चीजें-बारीक पीसकर उनका प्रयोग करना चाहिये। इन प्रयोगों में पट्टी बाँधने की ही विशेष आवश्यकता है। पट्टी के उचित रूप से बाँधने और सँभाल रखने से ही ये रोग सहज में दूर हो सकते हैं।

अभिष्यन्द ।

कभी कभी २४ दिनके पैदा हुये बच्चों के भी नेत्रों में अभिष्यन्द रोग पाया जाता है। पाश्चात्य चिकित्सकों का कथन है कि यह रोग आतशक और सूजाक से दूषित माता पिता की सन्तानों के ही विशेष पाया जाता है। पर साधारणतः भी गर्भ के मल या माता की जननेन्द्रिय के दूषित मल (जरायु) द्वारा नेत्रों के संसर्ग होने से यह अभिष्यन्द हो जाता है। इससे बालक नेत्र नहीं खोल पाता, नेत्रों में बार बार पानी या कीचड आता है। पानी का रङ्ग पीला, लाल या मवाद जैसा होता है। आँखें लाल, गँदली रहती हैं। आँखों के पपोटे सूज जाते हैं, विशेष कर ऊपर के पटल में अधिक सूजन होती है।

इस रोग में नेत्रों का मल बार बार साफ करते रहना चाहिये। मल साफ न करने से कभी कभी अक्षिगोल में व्रण हो जाता है, जिसका आरोग्य होना कष्टसाध्य ही होता है। जहाँतक बने आँख को कुछ खोलकर १५-१५ मिनट पर रुई के गाले से पोंछता रहे। नेत्रों की मल शुद्धि का दूसरा उपाय यह भी है कि भभके के पानी में फी सदी ५ भाग सुहागा मिला दे और इस पानी को १५-१५ मिनट में ५-५ बूंद आँख में डालता रहे। इस प्रकार नेत्र का मल सहज ही में शुद्ध हो जाता है। ऊपर के जल की भाँति सूजन कम हो जाने पर

फाग्रिक लोशन का भी व्यवहार किया जासकता है। आराम होने पर बालक नेत्र खोलकर देखने लगता है। जब तक आराम न हो जाय तब तक बालक को अँधेरे में रखना चाहिये।

यह रोग यदि बालक के जन्म से ३।४ सप्ताह देरी से हो तो सुखसाध्य होता है। बहुत छोटे (२।४ दिन के) बालक के होना रोग की दुःसाध्यता का लक्षण है।

धनुष्टंकार।

यह भी बालकों को प्रायः छोटी अवस्था में ही होता है। इसे फरेड़ा भी कहते हैं। यह एक प्रकार का वातरोग है। पर, पाश्चात्य चिकित्सक इसे संक्रामक मानते हैं और उनका कहना है कि यह रोग प्रायः नाभिरोग-ग्रस्त बालकों को होता है। नाभिरोग के जीवाणु या बाहरी धूल, राख, माटी में मिले हुए जीवाणु इस रोग के उत्पादक हैं। इस रोग में हाथ पैर पीछे ऐंठते हैं, सबसे प्रथम अर्दित रोग की तरह मुखमण्डल के स्नायुजाल पर इसका असर होता है। यदि इस रोग का दौरा दूध पीते समय हुआ तो बालक मुख में लगे हुये आँचर को काटता है। उसकी मुखाकृति हँसने कीसी मालूम होती है। पर धीरे धीरे वह धनुष की तरह ऐंठकर लकड़ी होजाता है। जबड़ा कभी बन्द होता है पर अकसर खुला रहता है। श्वास बड़ी मुशकिल से आता है। नाड़ी की गति मन्द या

सीधा होजाती है। शरीर में इतनी ज़बरदस्त ऐंठन होती है कि यदि बालक कुछ भी होश में होता है तो चीख उठता है। शारीरिक उत्ताप १०४ से १०७-६ फारनहीट तक हो जाता है। दौरा शान्त होनेपर नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है। बालक का मुखमण्डल पसीने से गीला और कुम्हिलायासा हो जाता है। कभी कभी यह दौरा कई मिनट तक रहता देखा गया है। दौरे के समय बालक की विशेष सँभाल रखनी चाहिये। उस समय उसे पटक देना, दबाना या घबराकर उलटा सीधा करना बड़ा बुरा काम है। दौरा शांत होनेपर बालक को दूध पिलाना और बलकारक औषध देना उचित है।

इस रोग में वातरोग के अधिकार में लिखे हुये चिन्तामणि, स्वर्ण या रस चतुर्मुख, कस्तूरी भैरव और मकरध्वज रस दिये जा सकते हैं। बालक के सर्वाङ्ग में नारायण तैल और बालक विशेष कृश हो तो माषादि तैल का मर्दन करना चाहिये।

रक्तातिसार।

यह रोग बहुत कम होता है। उन्हीं बालकों को प्राय: होता है जिनका आमाशय और पक्वाशय ठीक नहीं है। आमाशय की विशेष विकृति से कभी कभी वमन में भी रक्त आ जाता है। पर, पक्वाशय की विकृति से केवल दस्तों में ही खून आता

है। यह खून काले रक्त के दस्तों के साथ आता है। कपड़े पर मलके लगने पर रक्त का धब्बा अलग ही दिखाई देता है। इस रोग में बालकों के हाथ पैर ठंडे पड़ जाते हैं। १०० में ५०-६० की मृत्यु हो जाती है।

इस रोग में कच्ची बेलगिरी, अतीस, माजफल, दूधिया-बच और धाइ का चूर्ण १ रत्ती से ४ रत्ती तक अवस्थानुसार देते रहना चाहिये। दूध की मात्रा कम कर देनी चाहिये, जिससे वह सहज में पच जाय। बालक को निद्रा और आराम देने का विशेष आयोजन करना चाहिये। बालक के लिये मकरध्वज अथवा केवल केशर का प्रयोग भी अच्छा रहता है।

निर्माण-विकार।

ईश्वरेच्छा से, माता पिता की कुचेष्टा से या कर्मदोष से कभी कभी बालकों के शरीर या अङ्ग प्रत्यङ्गों में भिन्न भिन्न प्रकार के निर्माण-विकार देखने में आते हैं। जैसे-किसी भी अङ्ग प्रत्यङ्ग का विकृत होना, छ अङ्गुली हो आना, कुबड़ापन, रावणखण्डापन, मुह का टेढ़ापन, दो अङ्गों का जुड़जाना इत्यादि।

इन रोगों का कोई नियमित रूप नहीं, नियमित चिकित्सा नहीं। इससे इनका वर्णन करके हमें पुस्तक का व्यर्थ आकार

बढाना अभीष्ट नहीं है। इसी से हम इस विषय को यहीं पर समाप्त करते हैं।

संक्रामक रोग।

कुछ रोग ऐसे होते हैं जो एक व्यक्ति से किसी न किसी प्रकार से दूसरे व्यक्ति में पहुच जाते हैं। उनका यह सक्रमण देश, जल, वायु द्वारा भी होता है और स्पर्श या सहभोज सह वास द्वारा भी। कीटाणु-शास्त्रज्ञ पिछलामत मानते हैं और उनका कहना है कि गरद, बुख्वार, स्पर्श आदि से रोगों के उत्पादक कीटाणु श्वास, रोमकूप, भोजन या घावों के मार्ग से एक व्यक्ति से दूसरे के देह में पहुँच जाते हैं। ऐसे ही सक्रामक रोग एक से दूसरे पर सक्रमण करते रहते हैं। इस अधिकार में ऐसे ही संक्रामक रोगों का वर्णन आवेगा।

गुड़िका-ज्वर।

बालकों को यह ज्वर प्राय होता रहता है। पूर्ण रूप से रूप व्यक्त होने में इस ज्वर में १०--१४ दिन लग जाते हैं। जब तक दाने नहीं निकलते, यह ज्वर साधारण ही समझा जाता है। घर या पड़ोस में किसी बालक को यह ज्वर हुआ कि शीघ्र ही या घर में दूसरे बालकों को भी हो जाता है। ज्वर के आरम्भ में बालक को बड़ी बेचैनी रहती है। स्वभाव चिड़-

चिड़ा हो जाता है, खाँसी आती है, जुखाम होकर नाक बहने लगती है, अग्नि मन्द हो जाती है, आखें कुछ सूजी सी और गुलाबी रङ्ग की हो जाती हैं। कभी कभी नक्सीर भी फूट जाती है और गले में गाँठें पड़ जाती हैं। शारीरक ताप १०० १००-४ फारनहीट् और कभी कभी १०२ डिग्री से भी कुछ अधिक देखा जाता है। इस ज्वरकी वृद्धि कभी कभी विचित्र होती है, एक बार चढ़कर कम हो जाता है फिर दूसरी बार चढ़कर दाने निकलने तक बराबर तेज रहता है। चौथे या पाँचवें दिन मुख पर कुछ दाने दिखाई देने लगते हैं, पर एक अहोरात्र ही में ये सारे शरीर में आगे पीछे निकल आते हैं। कभी कभी इन दानों का आरम्भ छाती से होता है और मुह पर पीछे निकलते हैं। ये दाने कहीं विरल और कहीं सघन होते हैं। दबाने से एक बार व मालूम से हो जाते हैं, पर फिर उभड़ आते हैं। एक या दो अहोरात्र में जब तक पूरे दाने नहीं निकल आते, ज्वर की गति तीव्र रहती है। प्रातःकाल ज्वर कुछ कम रहता है पर मध्यान्होत्तर १०२ तक होजाता है। पर कभी कभी सायङ्काल भी हलका ज्वर ही देखा जाता है। दाना निकलने पर भी यदि ज्वर तीव्र हो, खाँसी और जुकाम अधिक मालूम हो तो शीतश्वास और न्यूमोनिया का अनुसन्धान कर लेना चाहिये। इनके होने से रोग असाध्य हो जाने का भय रहता है। ये दाने निकलकर ३।४ दिन में ही शान्त होजाते हैं। कुछ दिन तक उनका केवल दाग रह जाता है।)

हमारे देश की स्त्रियाँ इसे प्रायः माता (चेचक) में ही गिनती हैं। बालक के ज्वरित होने और दाने निकलने पर व उसे माता कहकर ही अपने अभीष्ट उपचार करती हैं। ज्वर रहते भी इस रोग में बालक कभी कभी खेलता ही रहता है इससे इसे स्त्रियाँ 'खेलनी माता, कह देती हैं। हमने इसे वसन्त (चेचक) रोग में इस लिये नहीं माना है कि इसके दानों में पीव नहीं पडती, न चमडा उधडता है। इस में अब अधिक ज्वर हो जाता है तो कुछ बालक अचेत हो जाते हैं, श्वास अधिक बढ जाता है, सरदी के लक्षण दिखाई देते हैं और खाँसी ज़ोर पकड जाती है। ज्वर साधारणतः क्षीण हो जाता है और मुह की भीतरी झिल्ली लाल पडजाती है। रोग में दस्त आना या दस्तों में खून आना इस रोग का उपद्रव होता है। इस उपद्रव से कभी कभी नाड़ी भी गिर जाती है।

इस ज्वर की हलकी अवस्था में चिकित्सा की विशेष आवश्यकता नहीं है। रोगी को गरिष्ठ चीजें खट्टे पदार्थ और भर पेट न खिलाना चाहिये। दूध, सागूदाना, धूटू के लावा या दाल का पानी पथ्य में देना चाहिये। ज्वर के लिये सञ्जीवनी वटी, ज्वरांकुश, अतिसार हो तो आनन्द भैरव, स्वच्छन्द भैरव शीतकास का उपद्रव हो तो कट्फल चूर्ण, यवक्षार, कल्पतरु रस सब चीजें पारी पारी से थोडी थोडी मात्रा में देना चाहिए। छातीपर कपूर, घी, सेंधा नमक मिलाकर मर्दन करना

और गरम किये हुये हाथ से सेंकना चाहिये। दाने शांत हो जाने पर अतीसार हो तो केवल अतीस का चूर्ण शहद के साथ चटाना चाहिये। रोगके समय कास रहा हो और बालक निर्बल हो तो चौमुजी चटनी के साथ द्राक्षासव १ मास तक देना चाहिये।

रक्त ज्वर (लालबुखार)।

यह स्पर्श से विशेष फैलता है। इसके आरम्भिक काल में शरीर का वर्ण रक्त हो जाता है, दाने भी लालरङ्ग के ही निकलते हैं। ४।५ दिन बाद ये दाने सब मिलकर एक हो जाते हैं। यह ज्वर अभी भारत में नहीं हुआ है। २० वर्ष बाद सम्भव है कि भारतीय चिकित्सकों को इसकी चिकित्सा का अवसर मिले। यह संसर्गज और त्रिदोषज व्याधि है।

जर्मनी की माता।

यह बहुत हलकी माता होती है। ज्वर भी इसमें साधारण १०० फारनहीट तक रहता है। कभी कभी इसके लक्षण लाल बुखार के जैसे होते हैं और दाने भी लाल निकलते, हैं पर अधिक लाल नहीं। हम इसे अपने यहाँ की माता के भेद में ही मानते हैं, अतः इसके लक्षण और चिकित्सा प्रसूत रोग के अनुसार ही मानना उचित है।

साधारण वसंत।

कुछ बालकों को एक प्रकार की साधारण माता निकलती है। इसका जोर प्राय. ८ से १६ दिन तक रहता है। इस में कुछ मदाग्नि, सामान्य ज्वर, भूखकी कमी, प्यास अरुचि, कब्ज, चिडचिडापन होता है। १ या दो दिन बाद शरीर में जा दाने निकलते हैं उनमें अधिकतया जल ही रहता है। नये दाने ७।८ दिन में सूखकर झडजाते हैं और उनके दाग अधिक नहीं होते। यदि ये दाने खुजला लिये जाँय तो घाव भी हो सकते हैं।

साधारणतः इस रोग में बालक के पथ्य और शुश्रूषा में ध्यान रखना चाहिये, चिकित्साकी इसमें विशेष आवश्यकता नहीं है। यदि आवश्यकता भी हो तो सञ्जीवनी वटी और लोकनाथ रस से काम चलाया जा सकता है।

टीके की माता।

वसंत रोग (चेचक) के लिये जो बालकों की भुजाओं पर टीका लगाया जाता है उससे जो दाने उभडते हैं उन्हें टीके की माता कह सकते हैं। यह टीके के द्वारा शरीर में 'लिम्फ' लस पहुँचने से ही होता है। यह भारी चेचक न निकलने में बहुत कुछ सहायक होता देखा गया है।

यह टीका जब बालक बलिष्ठ और स्वस्थ समझा जाता है तभी लगाया जाता है। जहाँ टीका लगाना हो (कुहनी और कंधे की हड्डी की एक तिहाई दूरी पर) बायें हाथ के अँगूठे से जरा मल दें और छुरी पर थोड़ा लिम्फ-लस लगाकर उस स्थान पर रगड़ दे। रगड़ देने पर जब चमड़ा साफ हो जाय तब नश्तर से हलका चीरा सा लगादे। यदि यह कार्य अच्छी प्रकार हो जाता है तो दाने अच्छी प्रकार उठते हैं और उस समय नीचे लिखे लक्षण भी खासे होते हैं। पर टीके की क्रिया कम होती है तो वे लक्षण बहुत साधारणही होकर रहजाते हैं।

जिस जगह पर टीका लगता है तीसरे दिन उस जगह पर लाल छाला उठता है। इस छाले में प्रायः पहिले पानी होता है। फिर वह पककर मवाद हो जाता है। तब बीच में सफेद मवाद और चारों तरफ लाल लाल मण्डल होजाता है। यह मण्डल कड़ा होता है और दबाने से या छूने से दर्द होता है। यदि दाना की गुलाई इञ्च का एक तृतीयांश और लाल मण्डल का आकार एक या डेढ़ इञ्च का हो तो अच्छा उठान समझा जाता है। पकने पर इस दाने का मध्यभाग कटोरीकी तरह गहरा हो जाता है और किनारे ऊपर ऊपर उठ आते हैं। दाना उठने पर इसमें जोर से ज्वर आता है पर २।३ दिन में वह हलका पड़ने लगता है और १४ दिन में सब बातें शान्त पड़ जाती हैं। २०-२१ दिन में छाले की पपड़ी उतर जाती

है। घाव का दाग लाल या कुछ पीजना रङ्ग का होता है। जिनको दाग गहरा होता है उनके यह निशान जन्म भर भी रहता है।

जब आराम होनेपर भी घाव न सूखा हो तो उसपर येसलीन, घी और कत्था मिलाकर या पुराने घड़े का टुकडा पानी में घिसकर लगाना चाहिये। और भी उपाय किये जा सकते हैं, पर इस विषय में चिकित्सक से परामर्श लेना चाहिये। इन दानों में कोई भय की बात नहीं है। यदि लापरवाही की जाती है तो बालक अधिक दिन दु ख पाता है। दाना उठते समय छिल न जाय ऐसा उपाय अवश्य करना चाहिये। इस लिये उस समय बालक को बिना बाँहों का कुरता या बण्डी पहिराना अच्छा है।

वसंत रोग।

वसत से हमारा मतलब चेचक या माता से है। यह रोग प्राय वसन्त ऋतु में ही विशेष जोर पकडता है, इस लिये इसका वसन्त नाम बहुत कुछ सार्थक है। प्राचीनायुर्वेद में इसे मसूरिका कहा है। इसका मसूरिका नाम मसूरसदृश दाने होने से माना गया है।

इस रोग का मूल किस देश में और किस समय उत्पन्न

हुआ इसका प्रमाण सन्दिग्ध-है। पर, भारत में यह रोग शाक्तों के समय में ही प्रादुर्भूत हुआ, इसमें सन्देह नहीं। आज तक, के वर्त्तमान परहेज-छूत छात के बचाव इस-बात के स्पष्ट प्र-माण हमारे घरों में आज तक प्रचलित हैं। यद्यपि बहुत सी, बातें जो हमारे प्राचीन खुले घरों में पहिले मानी जाती थीं आज भी शहरों की तङ्ग गलियों और बन्द घरों में मानी जाती हैं और उनसे बराबर हानि होती है, पर उन सबका अस्तित्व हमारे उसी शाक्त समय से है। इस रोग की चिकित्सा और भारत में उसके प्रचार की न्यूनता का भी यही कारण है। शाक्तों में पूजा पाठ का माहात्म्य विशेष मान्य था, यही अन्त में हमारी भक्तिभाव का माताओं में आजतक भी मान्य होगया। इसी कारण चिकित्सा को जैसा अवसर मिलना चाहिये था न मिला, न चिकित्सा के तारतम्य से इस विषय में चिकि-त्सकों का कुछ ज्ञान ही बढ़ा।

होता है, पर किसी को यह एक बार भी नहीं होता। यदि इसे गर्भाशय की गरमी ही मानें तो उसका प्रकोप प्रत्येक बालक को प्रथम गरमी की ऋतु में होना स्वाभाविक होना चाहिये, पर यह रोग अपनी इच्छानुसार अनियत अवस्था में होता है। हमारी रायमें यह रोग बारबार नहीं होता। अनेक बार स्त्रियों अन्य प्रकार की फुन्सियों या लाल अन्हौरियों पर चटसे वसत का प्रकोप मान लेती हैं यह उनकी रोगविषयक अज्ञानता है। किसी किसी स्त्री को हमने यह बात अनेक बार कहते सुना है कि अमुक बालक को " खेलनी मालनी माता „ या "ढाई दिन वाली माता„ है। आश्चर्य का विषय है कि इस प्रकार की माताओं में बालकों को ज्वर या अन्य कोई कष्ट नहीं होता। न इनके दानों की तुलना वसत रोग (मसूरिका) के दानों से होती है। पर यह बात स्त्रियां अपनी मति के अनुसार जबरन समझ लेती हैं।

वसन्त रोग के आरम्भ में ज्वर अवश्य होता है कभी कभी १०४ डिग्री तक होजाता है। अधिकाश बालकों का शीत लग कर ज्वर आता है, पर, किसीका बिना शीतज्वर के भी वसन्त का प्रादुर्भाव हो जाता है। दोष दूष्यों की तीव्रतापर दानों का जल्दी या देरी से निकलना निर्भर होता है। ज्वर के आरम्भ में बालक उदास और भयशील रहता है। ज्वर के आरम्भ में भी ये लक्षण रहते हैं, पर शरीरताप, भय की मात्रा, मद की

लाली बढ़ती जाती है। किसी बालक को एक सप्ताह और किसी बालक को डेढ़ सप्ताह तक ज्वर आकर दाने निकलते हैं। इस ज्वर में प्यास जी की मचलाहट, दस्त, खाँसी शिर दर्द का प्राय विकल्प (होना न होना) बना रहता है। निद्रा वस्था में भी बालक का भय खाकर चौंकना प्राय बना रहता है। ज्वर की तीव्रता सन्निपात को भी मात करती है, पर कभी कभी ऐसा नहीं भी होता। भय के साथ प्रलाप (बकवास) भी बना रहता है। पृष्ठवश में दर्द होता है और गले की नसें फड़ फने लगती है। आमाशय में भारीपन और मासल स्थलों में जलन के साथ साथ पीड़ा होने लगती है।

इस रोग में पित्त और वायु कीही प्रधानता पाई जाती है। किसी किसी रोगी में उपराम के अंश से कफ भी पाया जाता है। पर, वह प्राय अप्रधान ही होता है। इस रोग में रक्त, रसवाहिनी कला, त्वचा और कुछ अंश में मांस दूषित होता है। कलाओं (झिल्लियों) के अतिदूषण के कारण कुछ रोगियों के कान, नाक, मुख, आमाशय, मूत्राशय, आदि के कोई कोई रोग मरणपर्यन्त साथी हो जाते हैं। कभी कभी यह रोग इन कारणों ही से मारक भी हो जाता है।

इस रोग में शरीर पर दो प्रकार के दाने निकलते हैं। एक छोटे दूसरे बड़े। बड़े दाने रोग की निशरता के चिन्ह हैं। छोटे दानों में रोगी के लिये किसी प्रकार की चिन्ता की बात

नहीं रहती है। दोनों ही दानों का उठाव एकसा होता है। पहिले मुखपर, फिर धड़पर और पीछे परों में गहरे या हलके लाल रङ्ग के चिन्ह दीखते हैं। ये ही चिन्ह फिर अपना पूरा रूप धारण कर लेते हैं। ये चिन्ह मुख पर अधिक और बाकी स्थलों पर विरल होते हैं। कहां कहां पर ये चिन्ह ५-७ एक जगह गुच्छ के आकार में होजाते हैं, जो पूर्ण रूप होनेपर सब एक में मिल जाते हैं।

पहिले पहिल जो लाल चिन्ह दिखाई देते हैं व धीरे धीरे बढ़ते और ऊंचे होते हैं, और फोड़े फुन्सियों की तरह इनमें मुह नहीं होता। इसी लिये इनके और उनके उठाव में अन्तर रहता है। दानों का आकार लाल रङ्ग से पलटकर सफेद होता है और उनमें छालों की तरह सफेद जल भर जाता है। यह जल पहिले स्वच्छ होता है, फिर मलिन हो चलता है और दाने शिथिल होने लगते हैं। पर इनके ऊपर की त्वचा छाले की अपेक्षा कड़ी-दरदरी-होती है। इन दानों का जल एक साथ नहीं निकलता, न सूखता ही है। दानों में खुजली आरंभ ही से रहती है। ७-८ दिन में इन दानों के फूटने से थोड़ी सी पीप निकलती है, पर, जो दाने नहीं फूटते उनकी पीप सूख कर दाल बंध जाती है। यह सब काम १० से १५ दिनके भीतर होता है।

दाल उतरने पर उस स्थान पर लाल या कुछ गुलाबी भूरे

रङ्ग का गढ़ा नजर आता है जो १-२॥ मास में पूरा हो जाता है। जहाँ के दाने पककर बिगड़ जाते हैं उस जगह के गढ़ों का पुगाव नहीं होता। ऐसे गढ़े (व्रण) बहुत से मनुष्यों के सदा चिन्ह स्वरूप रह जाते हैं।

यदि रोग की अधिकता न हो, दाने विरले हों, छोटे हों तो रोग साध्य होता है। अधिकता में रोग कष्टसाध्य होता है। रोगावस्था में शरीर के किसी भी मार्ग से या दानों से खून जारी होता है तो भी रोग कष्टसाध्य हो जाता है। जिन दानों का रङ्ग काला और उठाव बन्द हो जाता है वह रोग असाध्य हो जाता है। इसी प्रकार जिन स्थानों का ऊपर उल्लेख कर आये हैं उनकी लसीली झिल्लियों पर इस रोग का असर हो जाता है तब उन स्थानों में अनेक रोग हो जाते हैं, उन रोगों के कारण भी यह रोग असाध्य हो जाता है।

दाने फूटकर घाव और दुर्गन्धि फैलना, आँख सूजना और आँखों में घाव होना, कानकी भीतरी हड्डी गलकर कान बहना, नाक की हड्डी गलकर नाक बैठना, खाँसी की तीव्रता, न्यूमोनिया, फेफड़ों का बिगाड़, जिव्हा पर घाव होना, आमाशय अथवा पेट की अंतड़ियों की सूजन, मूत्राशय के अन्य विकार, जननेन्द्रिय की सूजन या घाव, अण्डकोषों के घाव आदि उपद्रव इस रोग में पाये जाते हैं।

।- कभी कभी यह रोग गर्भस्थ बालक को भी हो जाता है, ऐसी दशा में प्रायः गर्भपात होजाता है। जिन स्त्रियों के गर्भावस्था के समय देवयग्रान यह रोग हो जाता है, उन्हें भी गर्भपात हो जाता है।

बालक को वसन्त रोग के चिन्ह प्रगट होने पर उसकी कौनसी चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिये, इस विषय में बड़ा मतभेद है। इसी मतभेद की कृपा से इसकी चिकित्सा नहीं होने पाती और बचे तो दैवेच्छा से, न बचे तो दैवीच्छा। स्त्रियाँ कहती हैं कि बस, बालक पर आगन्तुक पुरुष (या व्यक्ति) की छाया पड़ी कि महाराणी रुष्ट हो जायँगी। ऐसी दृढ़ भावना में मूर्ख माली और मालिन और भी उन्हें भड़का देते हैं। क्योंकि उनका महत्व का यही स्थल है। पीछे उन्हें कोई कौड़ी को नहीं पूछता। इस लिये इस समय बहती गङ्गा में हाथ धोकर या अपना महत्व बघारकर ये भी लाभ उठाते हैं। पर, दुःख है कि उनकी एक दो घटनायें विज्ञान-सम्मत होनेपर भी बाकी सब शैली मूर्खता-सम्मत होती है। फिरभी पठित मनुष्यों में कभी इच्छा से कभी अनिच्छा से (स्त्रियों के हठ से) इस शैली का बोलबाला चलता ही जाता है।

और कुछ भी हो, इसकी चिकित्सा आवश्यक है। बालकों को एक साल के भीतर जेनर साहब का टीका लगाने से या-

लकों को जिस प्रकार वसन्त रोग के दुख का अनुभव नहीं करना होता है उसी प्रकार चिकित्सा करने से इस रोग का प्रतिषेध भी होता है।

ज्वर के आरम्भ में एक दिन कोई औषधि न दी जानी चाहिये। यदि दी जाय तो भी वह ज्वर का उतार देने वाली न होना चाहिये। वसन्त रोग के ज्वर की आरम्भिक दशा से दाने निकलने तक लोकनाथ रस ४।४ चावलभर अथवा नागरमोथे का चूर्ण २।२ रत्ती की मात्रा से शहद में चटाना चाहिये। प्यास की अधिकता में और खाँसी में बहेड़े की गिरी को पीसकर शहद में चटा सक्ते हैं। कुछ का मत है कि इस रोग का आक्रमण सहसा होता है इस लिये कुछ आहार अपक्व दशा में ही कोष्ठ में मौजूद रहता है, अतः उसके परिपाक के लिये सञ्जीवनी का प्रयोग करना चाहिये।

बाहरी छूत वायु के बचाव के लिये नींव की पत्तियों की धूनी देना या नींव की पत्तियों को घरमें टाँगना लाभदायक है।

जब दानों का प्रथम रूप दिखाई देने लगे उस समय बालक में सुस्ती, ज्वर की कमी, शरीर की शीतलता अधिक या शीत लग जानेसे होने वाले विकारों की सम्भावना प्रतीत हो तो दिन और रात में कई बार करके १ चावल से ४ चावल तक कस्तूरी बालक को दे देनी चाहिये। दाने निकलते समय दिन रात में

लवङ्गादि चूर्ण और शुक्ति भस्म की ६-७ मात्रायें शहद में देनी चाहियें। बालक की अवस्था देखकर मात्रा की कल्पना होनी चाहिये। लवङ्गादि चूर्ण एक रुपये भर में दो आने भर-शुक्ति भस्म मिलाकर देना उचित है। तीन वर्ष के भीतर के बालक को ४ चावल भर और ५ वर्ष तक के बालक को १ रत्ती और १० वर्ष तक के बालकों को ३ रत्ती एक की मात्रा देना चाहिये।

जब दानों में जल भरने के बाद मलिनता आकर भुर्रियाँ पड़न लगें तब कण्डे की राखको कपड़छान करके बालक के बिछौने पर और देहपर लगा देना चाहिये। जहाँपर दाने फूट कर विशेष पानी निकलता हो वहाँ राख विशेष रूपसे लगाना चाहिये, इसके दो लाभ हैं। राखके क्षार के कारण चर्म अधिक समय तक तरी नहीं देती। तरी देने वाले छिद्र क्षार के कारण बन्द होकर जल्द सूख जाते हैं। फिर सूख जाने के कारण बालकों के शरीर में कपड़े चपटकर दुःख नहीं देते।

बालकों के बिछावने के वस्त्र इस अवसर पर नित्य बदल देना चाहिये। पहिराने के स्थान में बालकों पर कोई स्वच्छ वस्त्र उढ़ा देना ही अच्छा है, ऐसी दशा में बालक को नङ्गा ही रखना चाहिये। बालकों का उठाने या करवट बदलाने के समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उनका बदन कहीं रगड़ न जाय और उनके दानों का चेप अपने हाथ पैरों में न लग जाय।

जिन बालकों को प्रलाप और शीताङ्ग हो गया हो या होने का भय हो उन्हें मृत्युञ्जय रस या कस्तूरी भैरव रस देना चाहिये।

जब कि दाने अधिकाश दशा में सूखने पर आ गये हों तब बालक के खान पान पर ध्यान देना चाहिये। यदि बालक को कब्ज हो या मल कठिनता से सूखा रूखा होता हो तो मुनका खिलाना चाहिये। जब तक दाने सूखने पर आवें तब तक बालकों को दूध या ऐसी तर चीजें न देना चाहिये जिनसे दानों में तरी पहुँचने का भय हो। बालकों को चने के बने पदार्थ (लड्डू आदि) या भुने हुये चने ही विशेषतया दिये जाते हैं। इससे दानों में तरी की अधिकता नहीं होने पाती। बालक के खाने के पदार्थों में मिर्च और नमक भी नहीं होना चाहिये। इनके होने से दानों में जलन और खुजली पैदा हो जाती है।

वसन्त के उपद्रव हों तो उनकी चिकित्सा चिकित्सक द्वारा अवस्थानुसार करानी चाहिये।

दानों के सूखनेपर बालक के शरीर पर चदनादि तैल लगा देना चाहिये। यदि कोई दाना पक गया हो तो उसपर शीत क्रिया करके पाक को रोकना चाहिये। ऐसे घावको नींव के शीतल काढ़े से धोकर हसराज की पत्ती की टिकिया बाँधनी चाहिये। साधारणत वानी या मुलतानी मिट्टी अथवा गेरू का

लेप भी छोटे मोटे घाव की चिकित्सा के लिये कभी कभी पर्याप्त हो जाता है।

वसन्त रोग के आरोग्य होनेपर हाथ पैरों के तलुओं में विशेष जलन हो तो मेंहदी की ताजी पत्ती पीसकर लेप करना चाहिये। इससे यह दोष दूर होजाता है। खानके लिये सितो पलादि चूर्ण अथवा तालीसाद्य चूर्ण शुक्ति या चन्द्रसिद्ध प्रवाल मिलाकर पहिले लिखे हुये (लवङ्गादि चूर्ण के) प्रमाण से शहद में चटाना।

जब सब दाने सूखकर उनकी टिकिया उतर जायें तब बा लक को हलके गुनगुने जल से स्नान कराना आरम्भ कर देना चाहिये। उसी समय से बालक की पाचनशक्ति के अनुसार पौष्टिक भोजन भी आरम्भ कर देना चाहिये।

जिन बालकों को अन्न खाने का अभ्यास हो उन्हें सामयिक मधुर फल अवश्य खिलाने चाहिये। फलों से बालकों के कोठे की गरमी बड़ी ही सरलता से दूर होती है।

मूल-शोथ।

यह शोथ कानके नीचे और ठोड़ी की हड्डियों के मध्यस्थान पर प्राय होता है। कभी कभी अक्षकास्थि के ऊपर और बगल बगल में भी होजाता है। इस शोथमें प्राय: हलका ज्वर आता

करता और चौंकता है। बेहोशी या आलस्य विशेष रहता है। पेट खराब होने से आरम्भ में ज्वर के साथ दस्त भी लगते हैं। पर कभी कभी शरीर-ताप की विशेषता से रोग आरोग्य होते रहने पर पीछे दस्त लगते हैं। पिछले दस्त लाभप्रद है, पर पहिले दस्तों में कभी कभी रोग बिगड़ भी जाता है। ७ से १६ दिन तक ज्वर रहकर शरीर पर सफेद दाने निकलते हैं। ये दाने कण्ठ से-आरम्भ होते हैं-और हजारों की तादाद में पँसुली, पेट, पीठ, पैरों में निकलते चले जाते हैं। छाती पर धुक धुकी के पास अधिक-दाने निकलना ठीक नहीं। उनसे रोगी को घबराहट बढ़ जाती है। कभी कभी रोगी असाध्य भी हो जाता है। एक बार दाने निकल कर यदि गायब होजाते हैं-उनका ओर घट जाता है, जो प्रायः सरदी से या शीत उपायों से होता देखा गया है-तो कष्टसाध्यता हो जाती है। नाभि के नीचे निकल आनेपर रोग का वेग अधिकांश में कम होने लगता है और फिर उसके असाध्य होने का संशय नहीं रहता।

इस रोग के आरम्भ में केशर, कस्तूरी, लौंग का प्रयोग विशेष किया जाता है जिससे दाने अच्छीप्रकार निकल आवें। ज्वर की दशामें सञ्जीवनी, ज्वरांकुश (त्रिकटुवाला) लोकनाथ रस या स्वच्छन्द भैरव रस देना चाहिये। जब ज्वर कम हो जाय और दाने भी मुरझा जायें, बालक को कुछ खाँसी,

उदर रोग और कमजोरी प्रतीत हो तो थोड़ी मात्रा में लव-ङ्गादि चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये। पथ्य में दूध का प्रयोग अच्छा रहता है। जो बालक अन्नाहारी हों, उनको अन्न (विशेषकर भात) न देकर कूटू की खील या रोटी देनी चाहिये। आरम्भिक दशा में ज्वर के साथ दस्त हों तो उनके कम होने का प्रबन्ध करना चाहिये। शीत विकार हों तो कस्तूरी भैरव, आकारकरभादि चूर्ण या केवल केशर का प्रयोग करना चाहिये।

मास्तिष्कज्वर।

यह ज्वर भारत में कम होता है। जहाँ विशेष होता है वहाँ भी छोटी अवस्था वाले अपक्व-मस्तिष्क बालकों में होता है। बालिकाओं से बालकों में इसका असर विशेष देखा गया है। इसमें सुषुम्नाकाण्ड, पृष्ठकशेरुका और मस्तिष्ककला (भेजे की ऊपरी झिल्ली) विकृत होती हैं। शवव्यवच्छेद करके देखा गया है कि इस रोग के रोगियों का सुषुम्ना-काण्ड मस्तिष्क और रक्ताशयों का रक्त जमा हुआ रहता है। इसमें रक्तसञ्चालन की न्यूनता या रक्तसञ्चालनक्रिया के बन्द होने से ही मृत्यु होती है। इस रोग का दौरा जाड़े में, सोते समय प्रायः होता है। इसमें पहिले चक्कर से आते हैं, शिर में असह्य पीड़ा होती है और रोगी भ्रान्त-बधिर सा होजाता है। इसमें बेचैनी और चौंकना भी होता है। ग्रीवा की नसें तनी सी मा-

शर्बत चटाना या दूध में मिलाकर देना चाहिये। बालक की पाचनशक्ति खराब हो तो भुने हुये सुहागे को जल में घोलकर दिन में २।३ बार देना चाहिये। साधारणतः शोथघ्न कफघ्न, स्वर-संशोधक और मुलायमी पैदा करने वाली औषधियाँ होना चाहिये।

ज्वर के लिये लोकनाथ रस, बालरस, स्वर्णमाक्षिक भस्म, शुक्ति भस्म, मौक्तिक भस्म का प्रयोग होना चाहिये। उत्तेजक और गरम दवा न देनी चाहिये। पाचनदीपन के लिये अजीर्ण कण्टक, अग्निकुमार रस, यवक्षार का प्रयोग होना चाहिये। और किसी प्रकार का उपद्रव हो तो चिकित्सक को उसकी शांति का उपाय करना चाहिये।

रोगमुक्ति के बाद जब रोगी आहार करने लग जाय तब उसे पौष्टिक औषधि देते रहना चाहिये जिससे पुनर्बार इस रोग या अन्य रोग के आक्रमण का सन्देह न रहे।

शुष्ककास—कुकुरखाँसी।

पाश्चात्य चिकित्सक इसे विषोत्पन्न मानते हैं, पर, अभी तक उन्हें इसके उत्पादक कीटाणु नहीं मिले। यह रोग कभी एक बालक से अन्य साथ खेलने वाले बालकों को भी होजाता है। यहां संक्रामकता का गुण इसके विषोत्पन्न होने का संशय

दिलाता है। हम इसे गलत मानते हैं। सम्भव है कि इसके कीटाणु भी वातात्मक हों और उनका सम्बन्ध केवल श्वास प्रश्वास से ही होता हो, थूक या कफ से नहीं। ऐसी दशा में दृश्य कफ-कीटाणुओं की तरह इसके कीटाणु न लक्षित हों।

यह रोग कफ के सूख जाने या गले की श्वासनलिका में अधिक सूखे वायु गुणों के सम्पर्क होने या सरदी लगने से आरम्भ होता है। इसमें बालक १।२ मिनट तक धौं धौं करता रहता है। मुह से लार गिरती है, पर कफ नहीं। गले से साँय साँय का शब्द आता है घर्र घर्र का नहीं। कासकी अधिकता से बालक पसीने में लदफद हो जाता है, वमन कर देता है। कभी कभी इसी अवस्था में उसे मल मूत्र भी हो जाते हैं। कास का वेग हट जानेपर मुह लाल की जगह काला, शरीर निस्सत्व और थका हुआ हो जाता है। यह विकट खाँसी है। यह बालकों का अधिक होती है। बड़ों में यह बहुत कम होती है। इसका दौरा १ अहोरात्र से १।२ मास तक रहता है।

यह रोग यदि सर्दी से हुआ हो तो बालक के गले के पास छातीपर नारायण तैल में केसर मिलाकर मलना चाहिये और खाने के लिये चन्द्रामृत रस, चौंमुनी, कुंकुमादि या लवङ्गादि वटी देना चाहिये। यदि कफ सूखने से या गरद गुबार से हुआ हो तो लऊक सपिस्ता (लसाड़े का शर्बत) शक्कर तिगार

का शर्वत विशुद्ध प्रवाल, पलादिवटी, यवक्षार और मिश्री आदि का प्रयोग करना चाहिये।

रोग रहते और आराम होने की दशा में भी बालक को सुख पूर्वक सुलाने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। ऐसी दशा में द्राक्षासव भी दिया जाय तो कोई हरज नहीं है।

इन्फ्लुएंजा।

पाश्चात्य चिकित्सकों का कहना है कि इस रोग में श्वास पथ और आहारपथ की श्लैष्मिक कलायें शोथ युक्त हो जाती हैं। यह रोग कफ पित्त प्रधान होता है। भारतीय चिकित्सक इसे कफ पित्त प्रधान 'फल्गु,-ज्वर ही मानते हैं। इस रोग की तीन दशायें देखने में आती हैं-पहिली सुसाध्य, दूसरी कष्ट साध्य तीसरी असाध्य।

प्रथमावस्था में ज्वर साधारण या कभी कभी १०४ डिग्री तक, शिर और कमर में अधिक पीड़ा, कमजोरी का अनुभव विशेष, प्यास, हलकी खाँसी, छाती में भारीपन-ठोस आवाज आना, नाड़ी का तीव्र चलना, वस्त्र ओढ़े रहने की इच्छा, जीभ सफेद मलयुक्त, हलकी बेचैनी, सुस्ती। ऐसी दशा में ३ से ५ दिन तक रहकर ज्वर उतर जाता है।

दूसरी अवस्था में ज्वर का १०५ या १०६ रहना, खाँसी का ज़ोर, विशेषकर रातको सूखी खाँसी का आना, नाड़ी तीव्र पेट और छाती में भारीपन, पहले बदबूदार दस्त आना, बेचैनी, चौंकना और प्रलाप, नाक का तर रहना, बार बार करवट बदलना, ६-१० दिन तक ज्वर रहता है।

तीसरी अवस्था में ज्वर की गति तीव्र, प्रलाप, बहोशी खाँसी की अधिकता, सायँ सायँ शब्द होना, सेंकने से कुछ लाभ होना, गले की घरघराहट, श्वास का बढ़ना, मुह से बदबू आना, अकिलय, शिथिलता, हाथ पैरों का विशेष गरम न होना, नाड़ी शिथिलता लिये होती है।

इसकी तीसरी अवस्था न्यूमोनियाँ से मिलती जुलती होती है। रोगी को जहाँतक हो आराम से साफ कमरे में सूखे साफ बिछौनों पर सीधा लेटा रहने दे। औषधियों में सखी घनीरटी लोकनाथ रस, बालरस, कुमुदेश्वर, बज्रफल चूर्ण, स्वच्छन्द भैरव, यवक्षार का प्रयोग होना चाहिये। छाती पर मलने के लिये १० वर्ष का पुराना घी कपूर सेंधा नमक मिला कर मलना। अथवा कपूर, सोंठ को बारीक पीसकर घी में पकाना और उसकी मालिश करना। ऊपर से रुई या ऊनी वस्त्र की पट्टी बाँध देना। पथ्य में दूध देना हो तो उसमें थोड़ा यवक्षार और मीठी बच मिलाकर देना। हलके सेंक से छाती

पर सेंक भी किया जा सकता है, पर बहुत कम। तीसरी अवस्था में न्यूमोनिया की चिकित्सा का अवलम्बन ही करना चाहिये।

पैतृक उपदंश।

कुछ रोग ऐसे हैं जो बालकों में माता पिता (और कभी कभी पितामह मातामह आदि) के राग-संसर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे उपदंश को ही लीजिये। उपदंश की विष-क्रिया मूत्र और वीर्य में बराबर मोजूद होने से बालकों को उस रोग के लक्षण रोगी बना देते हैं। इसी लिये आयुर्वेद में कहा है कि

'शुक्र हि दुष्ट सापत्य सदार वाधते नरम्,

कभी कभी यह राग वंशानुक्रम से ३।३ पीढ़ियों तक में चला जाता है। इस रोग के लक्षण विचित्र प्रकार के होते हैं। उनकी इयत्ता की कोई बात नहीं कही जा सकती। कभी कभी कोई लक्षण चिकित्सकों को आश्चर्य में डाल देता है, जिससे वे रोग निश्चय के झमेले में ही पड़े रहते हैं। यह रोग यदि जन्म के साथ पैदा होकर बालक की १ मास की अवस्था के भीतर ही सब लक्षणों से प्रकाशित होता है तो अवश्य मारक होता है। पर, पीछे पीछे इसकी मारकता घटती जाती है।

इस रोग में रक्त पर विशेष प्रभाव पड़ता है। रक्त के खास खास स्थल वरन्, प्लीहा इससे निकम्मे होकर गोलाकार

बढ़ते हैं। चमड़े का रङ्ग पीला पीला, शोथयुक्त अथवा विवर्ण हो जाता है। कभी कभी मुंह में छाले, ओठ और जीभ का फटना, बदन का गरम रहना पीपदार छोटे छाले या फुंसियाँ, खुजली, चर्म विकार उठते हैं।

इस रोग का असर अस्थि और इन्द्रियों पर भी होता है। जिन बालकों को यह रोग होता है उनके अस्थि लम्बाई चौड़ाई और मजबूती में वैसे नहीं होते जैसे तन्दुरुस्त बालकों के। कभी कभी टेढ़े मेढ़े हो जाते हैं और कभी वे वृद्धि ही नहीं पाते या बहुत कम बढ़ते हैं। या टेढ़े मेढ़े तक हो जाते हैं कूबड़ निकल आता है, जिन्हें देखकर वातज विकारों का बोध होने लगता है। इस रोग के प्रभाव से बालकों का स्वर फटा रहता है उसमें उच्चता नहीं रहती, कान या नाक बहा करता है शरीर गरम, थका हुआ सा मलिन रहता है। दाँत अधिक शीघ्र निकलते हैं और उनके निकलने में कष्ट होता है।

बालक में ऐसे कोई भी अकारण रोग चिन्हों को देखकर उपदंश के विषय में बालक के माता पिताओं से पूछ ताछ करनी चाहिये, तब बालक की चिकित्सा करनी चाहिये। चिकित्सा में यह ध्यान रखना चाहिये कि रोगनाशक औषधि के साथ में उपदंश-विघ्न औषधि का संयोग अवश्य रहे। अन्यथा लाभ नहीं होगा। बहुत छोटे बालकों के यदि छाले आदि पड़ जायें तो उन्हें झड़बेरिया की जड़ की छाल और

की छाल और त्रिफला की छाल के काढ़ों से स्नान करना चाहिये और उन छालों पर नीचे लिखी बुरुनी का प्रयोग करते रहना चाहिये। यदि घाव हो गये हों तो बुरुनी को वेसलीन या घी में मिलाकर लगाना चाहिये। इस बुरुनी में सफेद कत्था, सफेदा, सिंदूर, कबीला, कपूर खूब बारीक पिसा हुआ होना चाहिये। बड़े बालकों को पीने की दवा में कनकबिन्दु अरिष्ट, खदिरारिष्ट, त्रिफलावलेह, चोपचीनी पाक (माजून) माजून उश्बा वगैरह देना चाहिये। छोटे बच्चों को यह दवा न दे सकने के कारण यदि अनुचित न हो तो उनकी माता को ये दवायें खिलाई जानी चाहियें। या थोड़ी से थोड़ी मात्रा में बालकों को ही दी जायें।

इस रोग में पौष्टिक आहार छोटे बालकों के लिये माता के दूध के सिवाय और क्या हो सकता है। बड़े बालकों को खटाई मिठाई से परहेज भी कराना चाहिये और रोग की अवस्था के अनुसार चिकित्सा की जैसी व्यवस्था चिकित्सक करें वैसा करना चाहिये।

बालशोष।

यह रोग एक प्रकार का क्षय है। यह कई प्रकार का होता है। जैसे—

१—जीर्णरोग-जनित।

२-फुफ्फुसविकार-जनित।
३-दुग्धदोष-जनित।
४-अपौष्टिकआहार-जनित।
५-विषमाशन-जनित या अन्नविकार-जनित।

प्रथम प्रकार का बालशोष छोटे बड़े बालकों को सदा हो सकता है। जब भी कोई रोग हुआ तभी उस रोग की अधिक दुर्बलता निर्बलता के साथ में बालशोष पैदा हो सकता है। आरम्भिक दशा में यह सुसाध्य रहता है, पर पीछे कष्टसाध्य हो जाता है।

दूसरा फुफ्फुसविकार-जनित होता है। इसमें मूल कारण खाँसी और कफ के विकार (जुकाम आदि) माने जाते हैं। पीछे से इसमें ज्वर का अनुबंध भी हो जाता है। यह आरम्भ ही से कष्टसाध्य होता है पीछे असाध्य हो जाता है।

तीसरा दुग्धदोष-जनित होता है, इसमें मूल कारण केवल श्लेष्म-दूषित गाढ़ा दूध ही होता है। जब बालक खूब सोता है, सरदी खाता है, ठण्ढा पानी पीता है, कफ दूषित दूध पीता है तो उसके रस वाही स्रोत कफ के कारण रुक जाते हैं और उनसे यथार्थ रस नहीं बहता। इससे उस बालक के रक्त आदि धातुओं का बनना ही बंद हो जाता है और इसी से बालक बराबर सूखता जाता है। यही सूखा रोग है। यह आरम्भ में साध्य रहता है, पर पीछे असाध्य ही हो जाता है।

चौथा अपौष्टिक आहार जनित शोष है। जब बालक को पौष्टिक आहार नहीं मिलते तब वह क्रमशः क्षीण होने लगता है और धीरे धीरे सूख कर काँटा होता जाता है। यह रोग पहिले साध्य और अधिक समय में कष्ट साध्य होता है।

पाँचवाँ बालशोष विषमाशन या अन्न-विकारों से होता है। बालकों के भोजन परिमाण का जब ठीक खयाल नहीं रक्खा जाता, कभी कम कभी ज्यादा, कभी पौष्टिक कभी अ-पौष्टिक, कभी कभी एकही प्रकार का निकम्मा आहार अधिक दिनों तक दिया जाता है तब यह रोग आरम्भ होता है। इस रोग में पेटकी आँतों की क्रिया बिगड़ जाती है। कभी बालकों को दस्त आने लगते हैं पर कभी कब्ज हो जाता है। पेट में गाँठें पड़ जाती हैं और पेट बढ़ जाता है। पेट में शूल होता है और आमातीसार भी हो जाता है। जब पेट बढ़ता है तो हाथ पैर सूखकर लकड़ी हो जाते हैं। पेट की नसें नीले रङ्ग की मोटी मोटी चमकने लगती हैं। बार बार प्लीहा और यकृत् के बढ़ने की नौबत आजाती है। यह रोग क्रमशः संचित होता है पर दृढ़ होता है। आरम्भ ही में यह जैसा सुखसाध्य होता है वैसा कुछ दिनों बाद नहीं।

पाँचों प्रकार के बालशोष अन्त में बराबर से हो जाते हैं। सब में हाथों की हथेली, पैरों के तलुये, मस्तक, पट जलना

रहता है। बालक क्रांत, भयङ्कर, खिन्न दिखाई देता है, चिड़चिड़ा हो जाता है।

चिकित्सा करते समय यह निदान कर लेना चाहिये कि यह रोग किस मूल कारण से हुआ है। पहिले उसी मूल कारण को दूर करना चाहिये। पीछे भी चिकित्सा करते समय उस मूल कारण पर अवश्य लक्ष्य रखना चाहिये।

प्रथम बालशोष में जो जीर्ण रोग बालक के हो उसे यत्न पूर्वक दूर करना चाहिये। उसके दूर हुये बिना बालक हृष्ट पुष्ट और नीरोग नहीं हो सकता।

दूसरे बालशोष में कुमुदेश्वर रस, लोकनाथ रस, राजमृगाङ्क रस, या सर्वेश्वर रस, बसन्तमालती, च्यवनप्राश रसायन का सेवन कराना चाहिये। छाती पर नारायण तैल या नारियल के तेल का मर्दन होना चाहिये।

हिये। गरमी या चौमासे के दिनों में इसका मर्दन करने की आवश्यकता नहीं।

चौथे प्रकार के बालशोष में बालक के आहार की क्रिया पर ही पहिले विशेष लक्ष्य रखना चाहिये और उसी का ठीक ठीक प्रबन्ध करना चाहिये। औषधियों में शुद्ध शुक्ति, विशुद्ध विद्रुम, विशुद्ध मौक्तिक, बालरस, बसन्त मालती, च्यवनप्राश और सितोपलादि का सेवन कराना चाहिये।

हुई छोटी हर्र या उसारे रेवन का रेचन भी देते रहना चाहिये। साथ ही यदि शीत समय हो तो गरम जल से स्नान और तैल मर्दन की व्यवस्था जरूर होनी चाहिये।

पाश्चात्य चिकित्सक इस रोग को कीटाणुजनित मान-कर इसके बहुत से अवान्तर भेद कर देते हैं। पर वास्तव में परिणाम फल सबका एक ही है। उनकी राय में जब रोग कारक कीटाणु मस्तिष्क के स्थल विशेष (आवरक-कला) में इकट्ठे होते हैं तब वे मस्तिष्क-शोथ आरम्भ करते हैं। हम इस शोथ को भिन्न नहीं मानकर उन्हीं में से किसी के अंतर्गत मान लेते हैं इस लिये नहीं लिखते हैं।

असंक्रामक रोग।

बहुत से रोग ऐसे होते हैं जो एक बालक से दूसरे बालक पर आक्रमण नहीं करते। इन रोगों को असंक्रामक कहते हैं। यह भेद कल्पना केवल इस लिये की जाती है कि जिससे पा-ठक इस बात से अवगत हो जायँ कि अमुक रोगग्रस्त कोई बालक हो तो उससे दूसरे बालक को भिन्न स्थल में विशेष रूप से रखने की आवश्यकता है या नहीं, जिससे उस पर रोग का आक्रमण न हो सके। अब यहाँ से जिन रोगों का वर्णन है उनसे कोई बालक रोगी हो तो उसे और बालकों से बचाने आदि की आवश्यकता नहीं।

साधारण वर्षाज्वर।

यह ज्वर प्रायः वातप्रधान और कफसंसर्गी होता है। इसको लक्षण बालक में भी वैसे ही होते हैं जैसे बड़ों में। ऐनिक, अंतरा, तिजारी, चौथिया, दिन रात में दो चार आने वाला कहा जाकर इसके ५ भेद हो जाते हैं। इसके आरंभ में हलका या भारी शीत लगता है फिर ज्वर आता है। अन्त में पसीना आकर ज्वर उतरता है। कभी इस ज्वर में बीच में विश्राम मिल जाता है पर कभी कभी बीच में ही पुनः पुनः चढ़ा या चढ़ जाता है। इस ज्वर की गति १०४—१०५ डिग्री तक हो जाती है, नाड़ी चञ्चरा चलती है, प्यास भी लगती है, कभी कभी वमन भी हो जाता है। इस रोग में असाध्यता का भय नहीं रहता। इस ज्वर का प्रकोप श्रावण से माघ तक रहता है। और दिनों में इसका वेग कदाचित् ही होता है।

चिकित्सा भी इस ज्वर में साधारण ही की जाती है और उससे लाभ होता है।। इसमें ज्वरांकुश, कल्पतरु, बालरस, आनन्दभैरव रस देने से लाभ होता है। शुद्ध पथ्य मालूम हो तो जन्म घूंटी या बड़ी हरड़ का चूर्ण थोड़ी मात्रा में दे देना चाहिये। पथ्य में दूध, परवल, मुनक्का ग्रास, रोटी और बैंगन का भरता या आलू का शाक देना चाहिये। साबूदाना भी

दिया जा सकता है। पथ्य की व्यवस्था बालक की अवस्था विचार कर देना चाहिये।

अस्थि विकृति।

बालकों को कभी कभी अस्थिविकृति का रोग हो जाता है। इससे उनके हाथ पैरों के जोड़, मस्तक, पीठ या रीढ़ की हड्डियाँ पक जाती या तिरछी निकम्मी हो जाती हैं। इस रोग का दौरा बालक के पृथ्वी पर बैठने के समय से और जबतक वह अच्छी प्रकार न चलने फिरने लगे तब तक होता है। पर यह रोग उन्हीं बालकों को विशेष होता है जो माता का दूध न पाकर बाजारू विलायती स्वास्थ्यनाशक नकली खुराकों पर बसर करते हैं। केवल हमीं नहीं इस बात को अब वे पाश्चात्य चिकित्सक भी मानने लगे हैं जिन्हें परमात्मा ने थोड़ी सुमति दी है।

यह रोग बड़ा भयङ्कर होता है। कभी कभी यह उन बालकों को भी होजाता है जिनके माता पिता शराबी या गरमी, क्षय, धातुक्षय आदि के चिर रोगी हों। इस रोग में कोई हड्डी मोटी हो जाती है जिससे उस स्थान का स्नायुजाल पीड़ित होकर अकर्मण्य हो जाता है। यह दशा प्रायः सन्धि की हड्डियों की होती है। पीठ की रीढ़ जैसी लम्बी हड्डी मुलायम होकर इस रोग में लच जाती है जिससे या तो पीठ में कूबड़

निकल आता है या छाती ऊंची होकर 'कपोतवक्ष', रोग हो जाता है। कपालास्थि विकृत हो जाने से मस्तक में पीड़ा मस्तिष्क के विकार अथवा मृत्यु तक हो जाती है। दांतों में यदि विकार होता है तो वे बहुत देरी में निकलते हैं और टेढ़े मेढ़े निकलते हैं।

जिस स्थान में यह रोग होता है वह स्थान छूआ नहीं जाता, रोगी दीन और पीड़ित रहता है। उस स्थल के भीतरी अवयव, यन्त्र या आशय नष्ट भ्रष्ट से हो जाते हैं और उनकी क्रिया ठीक नहीं होती, आरम्भ में इस रोग में बालक की शरीर पुष्टि का अभाव होने लगता है। ज्योंही ऐसा मालूम होने लगे त्योंही सतर्कता से रोगी की चिकित्सा आरम्भ कर देनी चाहिये।

चिकित्सक ऐसे रोगकी सम्भावना वाले बालक के प्रत्येक अङ्गको दबाकर ध्यान पूर्वक देखे। दबाने से रोगी के रोगस्थल में जरूर पीड़ा होती है। बालक यदि गर्भिणी माता का दूध पिलायती डब्बा और शीशियों का दूध या कोई निकम्मा आहार करता हो तो उसे तत्काल बदल करके पौष्टिक और सुपाच्य आहार देना चाहिये। औषधियों में बालरस, लौहभस्म, स्वर्ण माक्षिक, शुद्धशुक्ति और लक्ष्मीविलासरस देना चाहिये।

बालक के मल मूत्र और शारीर ताप पर भी ध्यान देवे

रहना चाहिये। यदि मलमूत्र में रूक्षता हो तो बालक को घृत और तैल देना चाहिये। पर मलमूत्र में चिकनाहट हो तो उसे ये चीजें कम या बन्द कर देना चाहिये। शरीर ताप की अधिकता हो तो आहार में सौम्य (ठण्डी) वस्तु और शरीर ताप का ह्रास हो तो उत्तेजक और गरम चीजें देना चाहिये। अस्थिविकार से ग्रस्त बालक के जिस अङ्ग में पीडा विशेष हो उसकी खूब हिफाजत करना और उस स्थान पर नारायण, माषादि अथवा चन्दनादि तैल प्रयोग करते रहना चाहिये। अस्थिविकार के कारण यकृत्, प्लीहा, मस्तिष्क, पृष्ठवंश, पेट में कुछ विकार हो गये हों तो उनका भी यत्न करते रहना चाहिये। पृष्ठवंश के अस्थि विकृत होनेपर बालक को कभी खड़ा न करना चाहिये और ज्यादा बैठाना न चाहिये।

मोटे बालक को दूध छोड़कर और सब पदार्थ रूखे देने चाहियें जिससे मेद धातु अधिक न बढ़ने पाये। इस रोग में बालक को खेलने कूदने, दौड़ने और उठ बैठकर अधिक काम करने का समय देना चाहिये। इससे नवीन मेद नहीं बढ़ता और बढ़ा हुआ मेद घट जाता है।

औषधियों में शिलाजतु, लौहभस्म, सुहागा, प्रवालभस्म का सेवन कराना चाहिये। पथ्य में जौ, कुट्ट, कोदों, मूंग, पुराना चावल देना चाहिये। बालक केवल दूध पीता हो तो, केवल माता काही दूध देना चाहिये। भैंस का दूध इस रोग को बढ़ाता है।

रक्ताल्पता।

कुछ बालकों को स्थूलता के कारण और कुछ को यकृत् और प्लीहा के विकारों के कारण खूनके केण अधिक लाल नहीं पैदा होते। इससे बालक निस्तेज और सफेद सफेद या पांडु रोगी सा हो जाता है। ऐसे रोगी की चिकित्सा पूर्ववर्ती रोगों की चिकित्सा करने से ही रक्ताल्पता का नाश हो जाता है।

मुखपाक (छाले)

बालकों को प्रायः साधारण कारणों से भी मुंह में छाले होते रहते हैं, पर, कभी कभी ये विशिष्ट रोग का रूप धारण

कर लेते हैं। गरम दूध पिलाने, खार, नमक, मिर्च या तेज़ चीज़ खिलाने, कोप्टबध होने, गरमागरम चाय पिलाने या अधिक गरम पदार्थ खिलाने से या दाँत निकलने से पहिले स्वय भी छाले हो जाते हैं। इस रोग में मुख के भीतर की श्लेष्मकला दूषित होती है और इस रोग का फैलाव गला, गलफर मसूढ़ों और जीभपर होता है। बालक के मुख से सफेद या कुछ पीली लार टपकती है। कभी कभी उसमें दुर्गन्धि भी आती है। छालों का वर्ण सफेद, लाल, धूसर, पीला, लाल किनार दार, प्राय गढ़ेदार होता है। इससे बालक मुह नहीं बन्द कर सकता और दूध भी कम पीता है। कोठे की गरमी, बसत, मोतीझरा या परिपाक-दोष से भी ऐसा हो जाता है। छाले गोलाकार अण्डाकार और कभी कभी अनेक कोण वाले विचित्र आकार के भी हो जाते हैं।

यदि बालक को उस समय कोई पेट की खराबी हो तो उसको सब से पहिले दूर करना चाहिये। आवश्यकता हो तो जन्म घूटी या बड़ी हरड के चूर्ण के साथ गुलाब के गुलकन्द की ६ मासे तक की मात्रा खिला देनी या घोटकर पिला देनी चाहिये। छालों की उत्पत्ति पैतृक उपदंशके कारण प्रतीत होती हो तो चोपचीनी और उन्नावका शर्बत बनाकर चटाना चाहिये।

औषधियों में शुभ्र शुक्ति विशुद्ध विद्रुम, त्रिफलावलेह, चतुर्भुज अवलेह, सितोपलादि और पलाशलेह प्रयोग करना

चाहिये। बालक की अवस्था बड़ी हो और कहने के अनुसार पानी के कुल्ले कर सके तो चमेली के पत्ते और खैरसार के या त्रिफला के काढ़े से कुल्ले करा दें।

दन्तोद्भेद-रोग।

सभी बालकों को ये रोग नियमित रूप से होते हैं। चाहे थोड़े हों या बहुत। आयुर्वेद में लिखा है कि ये रोग दाँत निकलने पर बिना औषधि के स्वयं भी आराम हो जाते हैं। इस सदुपदेश का अर्थ कहीं कहीं बड़ा बुरा किया जाता है। जहाँ कोई चिकित्सक देखने लगा कि चटसे बालक के माता पिता या कोई पासी पड़ोसी बोल उठे-" आप क्या देखते हैं, इसके तो दाँत उठ रहे हैं, इसके इलाज की क्या जरूरत है „ इस वचन से लोग मान लेते हैं कि हम आयुर्वेद का उपदेश मानते हैं, पर यह उनका भ्रम है। आयुर्वेद उस वाक्य में यह नहीं कहता कि इलाज ही न करो, वह तो साधारणतः यह कहता है, जो हम ऊपर लिख आये हैं। जब दाँत निकल चुकते हैं तब यह रोग बिना औषधि किये भी शान्त हो जाते हैं।

कुछ चिकित्सक इन रोगों का इलाज यही मान बैठे हैं कि नश्तर से मसूढ़े चीर देना। उनकी धारणा होती है कि चीरते ही दाँत निकल आने से दन्तोद्भेद रोग आराम हो जायँगे। पर यह व्यवस्था बड़ी बुरी है। इन रोगों के समय मुख में

प्राय विपाक्त परमाणु बने रहते हैं जो चीरने से रक्त में मिल कर अनेक उपद्रव पैदा कर सकते हैं। अत यह क्रिया एकात हितकर नहीं।

जब दाँत निकलते हैं तब बालक कडी चीजें खाने की इच्छा रखता है। वह समय भी ऐसा होता है कि बालक को दूध छोडकर प्राय अन्नपर आना पडता है। इस लिये कभी कभी तो केवल अजीर्ण या अपाचन के कारण ही से दन्तोद्भेद कैसे रोग हो जाते हैं। चिकित्सा करते समय चिकित्सक को यह बात पूर्ण ध्यान देकर समझ लेनी चाहिये।

दन्तोद्भेद–रोगों में बालक के मसूढे लाल, फूले हुए, सख्त और सूखे, गरम, दबाने से दर्द करने वाले होते हैं। ये लक्षण न हों तो बालक के रोगों को दन्तोद्भेदज मानना ही नहीं। इन रोगों में जौन से रोग के लक्षण हों उन्हीं की चिकित्सा करना चाहिये। साथ ही दन्तोद्भेद गदांतकरस भी देते रहना चाहिये।

दाँत उठने में कभी कभी सरदी के लक्षण होते हैं। खाँसी आती है नाक बहती है, ज्वर आता है दस्त लगते हैं, पेट दर्द करता है और कभी कभी कब्ज भी हो जाता है। जीभ मसूढे और ओठ लाल रहते हैं, इनसे लार टपती है और मुह में अगुली देनेपर बालक उसे काटता है। कभी कभी वह ऐसी

दशा में स्तन को भी काट खाता है। दन्तोद्भेद-रोग के लक्षण गरमी के समय विशेष बाधक होते हैं।

टिस बाँधने से भी कभी कभी लाभ होता है। पर इसका प्रयोग गरमी के समय और तालुव्रण रोगमें न करना चाहिये।

पाचन–दोष।

बालकों के पाक–यन्त्र कोमल, अविस्तृत और लघुस्रोत होने के कारण पाचनदोष प्राय हो जाता है। यद्यपि इनके पाचनदोष के मूल कारण वेही होते हैं जो बड़े व्यक्तियों के होते हैं, पर बालकों को पाचनदोष सहज में ही हो जाता है और वह अधिकांश में साध्य ही होता है। उदाहरणके लिये दो बातें ही पर्याप्त होंगी। बालकों को जो वमन होता है उसमें पेट तक की आतें नहीं उलटती और उतना कष्ट नहीं होता जो बड़ों को होता है। कोई कोई बालक महीनों तक दुग्ध पीने से पीछे प्रतिबारही वमन कर देता है और इससे उसे कोई कष्ट नहीं होता। इसी तरह जो संग्रहणी रोग बूढ़ों के लिये असाध्य और जवानों के लिये कष्टसाध्य माना गया है वही बालकों के लिये साध्य माना गया है। आयुर्वेद का यह मन्तव्य उन्हीं कारणों के आधार पर माना गया है जिन्हें हम ऊपर लिख आये हैं।

वमन।

पाचनदोष के कारण जब बालकों का पाचनक्रम ठीक नहीं

रहता तब वे वमन कर देते हैं। वमन में साधारणत आहार–चाहे दूध हो, चाहे अन्न–ज्या का त्यों ही गिर जाता है। जब दिन में कई बार वमन होने लगे तो उसका प्रतीकार करना चाहिये। वमन और कारणों (छर्दि रोगके निदानभूत कारणों) सेभी हो सकता है, पर पाचनदोष अवश्य होता है इस लिये पाचनदोष का ही ध्यान सब से प्रथम रखना चाहिये।

इसके लिये श्वेत (मीठी) वच, चूने का शर्बत, जवाखार का शर्बत, सुहागे की खील, वराट भस्म, सेंहुडे के पत्तों की भस्म थोड़ी मात्रामें देते रहना चाहिये। वमन की दशामें पसी क्रियापर भी विशेष ध्यान रखना चाहिये जिससे बालक की मलमूत्र शुद्धि बराबर होती रहे। पाश्चात्य चिकित्सक रबडकी नली में काच या अनामेल का नेत्र (छिद्र गुटिका, Funnel) लगाकर आमाशय का दोष निकाल देते है, पर हमारी राय में यह क्रिया तभी की जानी चाहिये जबकि और क्रियायें सर्वथा निष्फल होजायं। वमन के अतियोग में बालक एक प्रकार का अम्लगधी नीले रंग का पतला दूध वमन करने लगता है। यदि अन्नाहारी बालक होता है तो उसे सूगी हटूक आती है। वमन के अतियोग म जल बहुतही कम देना चाहिये। आहार भी सुपाच्य और द्रवहीन दिया जाय तो विशेष अच्छा है। बार बार वमन करने से बालक की मुखाकृति निष्प्रभ और बेचैन सी रहती है। आहार पाते ही चिडचिडापन आता है

श्रौर पाकाशय दाबने पर उसे पीड़ा होती है; ऐसी दशा हो तो तुरन्त चिकित्सा होनी चाहिये।

कब्ज।

बालकों के श्राहारदोष, पाचनदोष, यकृद्विकार, पेट की श्राँतों के विकार या पैतृक उपदंश-विकार द्वारा बालकों को प्रायः कब्ज हो जाता है। इससे पेट तना हुश्रा, कड़ा, कुछ पीड़ायुक्त बना रहता है। मलमस्त, देरी से श्रौर बहुत थोड़ा होता है। मल का वर्ण मलिन, काला या मटीला होता है। मुख से श्वास बदबूदार श्राता है।

छोटे बालकों को ऐसी दशामें जन्मघूंटी का सेवन कराना चाहिये। कुछ वर्षों की श्रवस्था हो गई हो तो उन्हें श्रंडी का तेल भी दिया जा सकता है। कुछ दिन का पुराना कब्ज हो जाय तो श्राहारपर भी ध्यान देना चाहिये। पेटको गरम जल से धोना श्रौर सेंकना भी इस रोगमें उपकारी होता है। यकृद्विकार श्रादि रोगों से यदि कब्ज हुश्रा हो तो पहिले उन रोगों का उपाय करना चाहिये। मूल रोग नष्ट होनेपर कब्ज स्वयं दूर हो जाता है।

बालकों को यदि श्रन्नाहार का श्रभ्यास-क्रम जारी होगया हो तो भुना हुश्रा सुहागा या-१०० भाग जल में मिला हुश्रा १० भाग शहद्रव ५ से १० बूंदतक देना चाहिये। शहबदी, गंधक

वटी, लवणभास्कर और पञ्चसकार, चरकादि चूर्ण देना भी उपयोगी है।

उदरशूल।

यह रोग प्राय आहार की दुर्व्यवस्था से होता है। इसमें पेट में हलका भारी तनाव होता है, जिसे बालक छूने तक नहीं देता। बालक लेटा हो तो टेढ़ा मेढ़ा होकर ऐंठता है, बार बार रोता है और दीन हो जाता है।

ऐसी दशा में वमन और विरेचन दोनों दिये जा सकते हैं। उसके रेचन या पीछे कोष्ठ-काठिन्य (कब्ज) में लिखी हुई ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। वमन विरेचन देने बाद भी बालक को कुपथ्य या परिमाण से अधिक या जल्दी जल्दी आहार न मिलना चाहिये।

पाकाशय का घाव।

यह जिस किसी बालक को ही होता है। इस रोगके होने में लघन, अधिक परिश्रम, थकावट, फुप्फुस-दिल-यकृत्-गुर्दे के विकार या आहार की दुर्व्यवस्था ही कारण होते हैं। पाकाशय में क्षत होने से वमन में खून आता है, पाकाशय में छूने से पीड़ा होती है, बेचैनी बढ़ती है और अन्त में मृत्यु तक हो जाती है।

खून की कै होना ही इस रोग का प्रधान लक्षण है। ऐसा हो तो पाकाशय के ऊपर शीत उपचार करके मुक्ता, शुक्ति, प्रवाल आदि देना चाहिये। यह व्याधि प्राय असाध्य ही होती है।

अतिसार।

अधिक गरिष्ठ, अधिक परिमाण में या कुसमय आहार मिलने से बालकों को अतिसार (दस्तों) की बीमारी प्राय हो जाती है। यह दो प्रकार की होती है। एक साधारण दूसरी असाधारण। साधारणमें २-४ हरे पीले दस्त आकर क्रम ठीक हो जाता है, पर जब उपेक्षा होती है तो विशेष पतले और अनेक रङ्ग के दस्त आते हैं। असाधारण में महीनों, फूटा हुआ, फटा हुआ, कुछ कड़ा कुछ पतला, कच्चा या ज्यों का त्यों (खाई हुई दाल या फलों के टुकड़े जैसे खाये वैसे ही गिरना) मल होता है। इसे चिकित्सक सग्रहणी भी कहते हैं क्योंकि ऐसा विकार ग्रहणी की खराबी से ही होता है। पर बालकों के आशय प्राय कोमल होते हैं और वे सहज ही में बिगड़ बन जाते हैं, इससे इसे आयुर्वेद ने भी साधारण और साध्य ही माना है। इसलिये हम इसे केवल अतिसार का ही नाम देते हैं।

अतिसार की दशा में आमाश आने से और आने लगती

है। उसे आमातिसार कहना चाहिये। किसी भी चिकित्सक का चिकित्सा करते समय इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। कभी कभी आँव आते रहने पर भी आमातिसार का बोध नहीं होता। ऐसी दशा में यह परीक्षा करके आम पक्व दशा का ज्ञान अवश्य कर लेना चाहिये। बालक को जब दस्त होने लगे तब उसे एक जल भरे हुये मट्टी के खपरे पर बैठा दे। इससे पानी में जो मल गिरेगा यदि वह आमांशयुक्त होगा तो जल में बैठ जायगा। अन्यथा तैरता रहेगा। यह परीक्षा बंध हुये गांठदार मल की हो सकती है, पतले मल की नहीं। पतले मलकी परीक्षा करनी हो तो उसे सूखे मट्टी के पात्र में थाड़ी देर पड़ा रहने दे। यदि उसपर कुछ देर बाद चमक मालूम देने लगे तो उसे " आम „ और चमक न मालूम दे तो " पक्व „ समझना चाहिये।

पथ्यातीसार में कर्पूररस, समीर गजकेशरी, अनीम का चूर्ण, उबाली हुई छोटी हर्र, कुंकुमादिवटी, कच्चे बेल का गूदा देना चाहिये। पथ्य-सुपाच्य हलका और ताजा देना अच्छा है। यह देखा गया है कि ठीक पथ्य की यदि व्यवस्था हुई तो अतीसार की व्याधि आपही आप भी आराम हो जाती है।

विषूचिका।

अधिक गरमी का समय, अजीर्ण, हैजे के प्रकोप के स्थल या दूषित जल के सेवन से कभी कभी बालकों को भी विषूचिका (हैजा) हो जाती है। यह प्राण नाशक भयङ्कर रोग है। इस रोग में प्रायः बड़ों की तरह बालकों को भी मूत्र का अवरोध, पतले सफेद रङ्ग के दस्तों और बार बार बार वमन का होना, बेचैनी, देह भर में पीड़ा, दीनता, प्यास अत्यधिक, पर खाने की इच्छा का लोप, पेट शिथिल, नाडी क्षीण, जीभ सूखी और शारीरताप भी ९६-९७ के लगभग रह जाता है। असाध्य दशा में वमन मे हलके गुलाबी रङ्ग का पानी और दस्तों से चावल के धोवन या माँड का जैसा सफेद मल आता है।

रोग के कारण का अन्वेषण करके वैसी ही चिकित्सा करनी चाहिये। पथ्य तब तक न देना चाहिये जब तक रोगी को आराम हुये ६ या ८ घण्टे न हो जाय अथवा वह स्वयं आहार न माँगे।

खराब आबहवा की दशा में कपूर का प्रयोग करना आव श्यक है। आधी चौथाई रत्ती की मात्रा में कपूर खिलाया भी जा सकता है। अजीर्ण हो तो लशुनादिवटी, गंधकवटी, राम बाण रस, अर्क कपूर, लवङ्गादिवटी देना चाहिये।

प्यास की अधिकता में ईंट या खपरे से बुझाये हुये जल में हजरतजहूर थोडा थोडा घिसकर देना चाहिय। सादे जल के स्थान में साफ पोदीने के अर्क में शिकञ्जबीन सिर्का मिला कर देना भी विशेष अच्छा है। शेष दशा में वैसे ही चिकित्सा करनी चाहिये जैसे बडों की।

कृमिरोग।

बालकों के शरीर में दो प्रकार के कृमि पाये जाते हैं। एक बाह्य (जूं लीख आदि) दूसरे आभ्यन्तर (चुरने पिन्नट आदि) इन दोनों में जो आभ्यन्तर कृमि होते हैं वे भी तीन स्थानों में (कफ, रक्त और पक्व में) होते हैं। यहाँपर हम कफ और रक्त के कृमियों को छोड़े देते हैं। पेट के कृमियों में भी ३ प्रकार के कृमि पाये जाते हैं।

१–सूत जैसे पतले, चरने।
२–कुछ बडे और लम्बे केंचुए जैसे।
३–बहुत बड़े लम्बे चपटे या मोटे पिट्टार।

बाह्य कृमि लीख जूंये जैसे मलिन रहने और मैले पसीने

से पैदा होते हैं उसी प्रकार पेट के कृमि भी मलदोष, दूषित अन्न या मांस या मट्टी खाने से पैदा होते हैं। पहिले नम्बर के कृमि प्रायः बालकों के पाकाशय से गुद द्वार तक होते हैं, या पाकाशय में पैदा होकर गुद द्वार तक पहुच जाते हैं। दूसरे प्रकार के कृमि पाकाशय में पैदा होकर वहीं पलते रहते हैं। ये ऊपर को चढ़ने की भी कोशिश करते हैं। मरने पर ये मल द्वारसे मलके साथ निकल जाते हैं। तीसरे नम्बरके बड़े मगज कृमि होते हैं, ये मरकर भी कष्ट से निकलते हैं।

बाह्य कृमि दूर करने के लिये नीम का तेल, शरीफे के बीजों का चूर्ण, कबीला, वायविडङ्ग के चूर्ण का उबटन या लेप करना चाहिये। इससे बाह्य कृमि मर जाते हैं और फिर पैदा नहीं होते।

पेट के कृमि जब पैदा होजाते हैं तब बालक का जी मचलाता है, फटे फटे दस्त कभी आते हैं या मल सूखकर काला, मैला, दुर्गन्धित आता है। पेट बड़ा आंख की पलकों पर भारीपन, शरीर का चर्म पीला या मटमैला होजाता है। मट्टी खाने वाले बालक के कभी कभी पांडु रोग या यकृद्विकार के लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं। सोते समय बालक दाँत किर किराते हैं और उनके श्वास में दुर्गन्धि आती है। चुरनों के गुद द्वार में पहुँच जाने से गुद द्वार में खुजली होने लगती है।

पेट के कृमियों के लिये खाने की दवायें-कबीला, शुद्ध गन्धक, वायविड्ङ्ग, नीम की गिरी, कृमिमुद्गरस आदि का उपयोग होना चाहिये। पत्तों का शाक, वासी भोजन, दही और पिट्ठी की चीजें, मांस या मट्ठी को बंद करा देना चाहिये। इस रोग में कब्ज न होना चाहिये। यदि कब्ज हो या पाचन-दोष के कारण दस्तों की अव्यवस्थित दशा हो तो भी दोनों बातें दूर करने का उपाय करना चाहिये।

काँच निकलना।

अधिक दिनों तक दस्त आने, आमातीसार में बार बार जोर से काँखने, कृमि पैदा होने या मल विबन्ध होने से गुदा का वलि-चक्र कमजोर हो जाता है और इसी कारण प्रायः बालकों को काँच निकला करती है।

इस रोग में काँच निकलने के मूल कारणों का पहिले प्रतीकार करना चाहिये। जब रोग शांत हो जाय तब थोड़ी मात्रा में १।२ चावल या इससे भी कम शुद्ध कुचिला दूने प्रमाण शुद्ध गन्धक के साथ दिन में दो बार देना चाहिये और माजूफल त्रिफला और फिटकरी के काढ़े से गुदद्वार को दो बार धोना चाहिये। ऐसा करने से यह रोग नष्ट होजाता है।

पांडुरोग।

पित्त की अधिकता, पित्त-विकृति या यकृद्विकार से या-

लक्षों को पांडुरोग होजाता है। इस रोगमें वातादों के शरीर का वर्ण पीला या कुछ हलका हरा, मुखपर शोथ, पेट बढ़ा सा, जीभ का रङ्ग सफेद-हलका पीला-शरीर में रूक्षता होती है। मूत्र अधिक पीलापन होता है। यहाँतक कि मूत्र में भीगन से कपड़ा हलदी के रङ्ग का हो जाता है। कभी कभी कुपथ्य के कारण मूत्र गाढ़ा भी आने लगता है। पाखाना रूखा और सफेद या मैले वर्ण का होता है।

इस रोग में पित्त-शान्ति का उपाय विशेष होना चाहिये। आहार में भी गरम या गरिष्ठ पदार्थ न होने चाहियें। मीठे या खट्टे फल (ककड़ी आदि) का प्रयोग विशेष अच्छा है। औषधि में-शुक्ति, प्रवाल, मण्डूर, मौक्तिक या कुटकी का प्रयोग करना चाहिये। सौंफ और कासनी के स्वरस का प्रयोग भी लाभदायक है।

यकृद्विकार।

बना रहता है। दबाने से दर्द भी होता है। पुराने यकृत् में पट् बढ़ भी जाता है और कठोदर या जलोदर के से लक्षण होने लगते हैं। रोगके कारण यकृत् की दो दशा होती है, बढ़जाना या कुम्हिला जाना। कुम्हिला जाने से बालक भी कुम्हिलासा जाता है। तब क्षीण पित्त के लक्षण होते हैं। कब्ज हो जाता है और जीभपर मल जमा रहता है। भूख नहीं लगती और पाचन बिगड़ जाता है। हाथ पैरों के तलुये गरम रहते हैं।

इस रोग में पाचन और दीपन क्रिया करने से अधिक लाभ होता है। इस रोगके होनेपर बालक को सुपाच्य आहार विशेषकर दूध देना उत्तम है। औषधियों में-रोहीतकारिष्ट, यकृदरिलोह, त्रिफला मण्डूर, शङ्खवटी, सुहागे का लावा आदि देते रहना चाहिये। यकृत् बढ़ा हुआ हो तो पेटपर अरण्डी के पत्ते बाँधना या हरके गोमूत्र से सेंक करके पलवे का लेप करना लाभदायक है।

कभी कभी यकृत् बढ़कर पक भी जाता है। इस प्रकार को आयुर्वेद में यकृद्विद्रधि माना है। यह असाध्य होता है। इसमें बालक नहीं बचता।

उदर-रोग।

बड़े आदमियों की तरह बालकों को भी कभी कभी प्राय

पैसा ही उदर रोग (जलोदर या कठोदर रोग) होजाता है। कभी कभी तो इस रोग का मूल कारण; यकृत् और प्लीहा का बढ़ जाना ही होता है। यदि पेट में जल सञ्चित नहीं हुआ तो उसकी संज्ञा कठोर होनेके कारण कठोदर रहती है। पर यदि जल सञ्चित हो गया तो जलोदर संज्ञा हो जाती है। परीक्षा करने से जलोदर ठीक पानी की भरी मसक जैसा हो जाता है। पेटकी नसें नीले रङ्ग की चमकने लगती हैं। पेट भी चमकने लगता है और रोगी को श्वास लेना भारी होजाता है।

इस रोगमें आरंभ में यकृद्विकारकी दवा देने और विरेचन देने से लाभ होता है, पर पिछली दशामें जलोदरका जल निकालने की प्रथा ही कुछ लाभ करती है। इस रोगी को अन्न और जल की जगह केवल गरम दूध देना चाहिये। जल निकालना हो तो नाभिके बगल में जहाँपर कोई आशय न हो, न वृहदन्त्र हो, वहाँपर शंकु द्वारा छिद्र करके नलिका लगा देने से सब जल निकल आता है। इसे कचा नश्तर कहते हैं। पक्के नश्तर में उदर प्राचीर चीरकर जल आने के मार्ग को रोकने का विधान किया जाता है, पर इस कार्य में जीवन संदिग्ध ही रहता है। यह रोग प्रायः असाध्य ही होता है।

प्लीहा।

जिस प्रकार दाहिनी पँसुली के नीचे यकृत् पड़ जाता है

उसी प्रकार बाँई पँसुली के नीचे तिल्ली बढ़ती है। उसके लक्षण और चिकित्सा ठीक यकृत् की तरह ही होते हैं। इससे हम उसका विशेष वर्णन नहीं लिखते हैं।

हृद्रोग।

नित्य की जीवन-क्रिया के लिये जहाँपर चलता फिरता रक्त शुद्ध किया जाता है उस स्थल का नाम हृदय या दिल है। इसके कई अंश हैं। इसके परदे, बाहरी भीतरी झिल्लियाँ और स्रोत जब विकृत हो जाते हैं तो उनसे कई रोग पैदा हो जाते हैं। दिल की धड़कन का बढ़ जाना या कम हो जाना, दर्द होना, श्वास लेने में कष्ट, घबड़ाना, बारबार बेचैनी से करवटें बदलना, स्तब्ध होना, चेहरे पर एकदम कालापन दौड़ना, हाथ पैर ठण्ढा होकर पसीना आ जाना, गला सूखना, बेहोशी आदि इस रोग के प्रधान लक्षण हैं।

यह रोग कुछ को बचपन से ही घेरता है। कुछ को और और रोगों के द्वारा दिल कमजोर होने के कारण होजाता है।

ऐसे रोगी को ढाढस देकर निर्भय रखना बड़ा जरूरी है। औषधियों में मौक्तिक; प्रवाल, मकरध्वज, कैलकाथ अवलेह, अर्क बेदमुश्क, एलाचलेह, कस्तूरी वटिका देना लाभदायक है।

दिलकी हरकत घट जाने और रोगी के निराश होने से घबड़ाकर इस रोग में मृत्यु भी होती है।

सर्दी या नासास्राव ।

जिन बालकों को माता पिता बहुत बचाव की दृष्टि से गरम कपड़ों से रात दिन ज्याद' लदा फदा और बंद जगह में रखते हैं उनको जरासी सर्द हवा से या किसी भी आहार विहार की विषमता से प्राय यह रोग हो जाता है। इस रोग में बालक की नाक बहती रहती है, कभी कभी छींक आती हैं, पर विशेष नहीं। नाकके परदे लालरङ्ग के रहते हैं, कभी कभी उनमें हलकी सूजन भी होती है। देखने में यह जुखाम का भाई मालूम होता है, पर वास्तव में इस रोग में मस्तक का भारी पन, श्वासरोध या आवाज का बैठनाना आदि एक भी लक्षण नहीं होता। इससे इसे प्रतिश्याय से भिन्न ही माना जाता है। बार बार होने से किसी किसी बालक के यह स्वाभाविक सा रोग हो जाता है और बहुत समय तक रहता है।

नासावरोध ।

कुछ बालक खेलके समय गोली, फूल, चना, मटर, कङ्कड आदि नासिका में चढ़ा लेते हैं। जब वह नाकमें चढ़ जाता है तो नासावरोध हो जाता है। जिस नासिका में वह बाहरी पदार्थ अटक जाता है उससे साँस लेना रुक जाता है।

इस नासावरोध में छींक दिलाकर या शंकु यन्त्र से बाह्य पदार्थ बड़ी युक्तिसे निकाल देना चाहिये। ऐसी दशामें कभी कभी चिमटी या अन्य वस्तुओं से भी निकालने की क्रिया की जाती है। परन्तु यह सब काम होशियारीसे करना चाहिये। नहीं जरासी चूक होने से सूजन आजाता है और फिर वह पदार्थ न दीखने के कारण निकलना भी मुश्किल हो जाता है। इस कार्य में आँकड़े का जैसा घूमा हुआ शङ्कुयन्त्र विशेष अच्छा होता है। नाक के आगे के हिस्से से आध इञ्च भीतरी ओर नीचे की तरफ एक गढ़ा है उसी जगह से शङ्कुका टेढ़ा भाग अटकी हुई वस्तु के नीचे ले जाकर घुमा देना चाहिये। इससे वह बाहरी पदार्थ अटका आता है और निकालने से सहज में निकल आता है। यदि बालक चञ्चल या विशेष घबराहट में हो तो सम्मोहनविधि से अचेत करके यह क्रिया करनी चाहिये।

नकसीर।

यह रोग बालकों को कभी कभी होजाता है। साधारणतः

नाक में अँगुली देनेके कारण नाक की चोट लगने से और विशेषत हृत्पिण्ड को या फुप्फुसोंके विकार से । कभी कभी सर्दी की खाँसी या जुकाम के जोर से भी यह रोग हो जाता है। गरमी के मौसिम में सुग्री और गरमी से हाजाता है।

किसी भी कारण से हो इस रोगमें शीतोपचार ही किया जाता है। रोगातर के कारण से हो तो उस रोग की अवस्था व्यवस्था के अनुसार इसका उपचार किया जाता है। नाकको शीतल जल से धोना बरफ का टुकडा कपडे के भीतर रख कर नाक में रखना, कपूर और सुगन्धित सफेद रङ्ग के फूलों को सूंघना, माजूफल या त्रिफला के शीतकषाय से नासिका का धोना इत्यादि उपाय करने चाहियें।

नासार्श ।

इस नासात तुवृद्धि भी कहते हैं। देशी भाषा में नकुला कहते हैं। नासिका में मल जमा रहने से इस रोग की वृद्धि होती है। बढ़ने पर बालक से श्वास नहीं लिया जाता और चबाने योग्य पदार्थ चबाये नहीं जाते। श्वासक्रिया की कमी से बालक की शरीर वृद्धि में आघात पहुँचता है और चर्वण क्रिया कम होने से मुखमण्डल केअस्थियों का यथावत् विकसा नहीं होने पाता। इस रोग में बालक सोता सोता एकाएक चौंककर उठता है और अच्छी प्रकार श्वास न आने पर भय खाया करता है।

इसकी चिकित्सा केवल औषधि तथा पथ्य से भी होती है। प्रारम्भिक दशा में नासिका के मल शुद्ध रहने के उपाय करना चाहिये। बालक को नाक छिनकने का अभ्यास कराना चाहिये। नासिका में क्षार जलकी पिचकारी दे देकर दिन में दो बार मल साफ करना चाहिये। बालक को ऐसे व्यायाम का अभ्यास करा देना चाहिये जिससे वह भरपूर श्वास लेता रहे। इस प्रकार रोग घटने लगता है और कालान्तर में नष्ट भी हो जाता है।

यदि उपेक्षावश रोग अधिक बढ़ चुका हो तो बालक को सम्मोहनविधि से अचेत करके शस्त्र-क्रिया से नासार्श का छेदन करना और व्रण-चिकित्सा से उस व्रण को आरोग्य करना चाहिये। पाश्चात्य चिकित्सक इस शल्यक्रिया में लोचेनवर्ग के फारसेप्स या क्यूरेट को काम में लाते हैं।

कण्ठावरोध।

कई साधारण कारणों जिनमें सर्दी ही मुख्यतया रहती है गले की नलिका में विकार पैदा करके कण्ठावरोध पैदा कर देती है। इस रोग में श्वास रुकता है, गले का स्वर बैठ जाता है, बालक का जी ऊबता है, थोड़ी सूखी खाँसी का ठसका आता है और गले में पीड़ा हो जाती है। इस रोग से गले के आस पास की झिल्ली आदि में भी रोग पैदा हो जाते हैं।

कण्ठावरोध से बालक तरल पदार्थों को छोड़कर कठिन पदार्थों को खाही नहीं सकता, बड़े कष्ट से दिन काटता है।

इस रोग में दूध आदि तरल पौष्टिक पदार्थ ही बालक को देने चाहियें। बालक के मुखके पास खौलते हुये पानीमें तारपीन, लोवान या नारायण तैल डालकर उसकी भाप श्वास द्वारा पेटमें पहुँचानी चाहिये। गले में नारायण तैल का मर्दन करके गले में भी वाष्प-सेक करना चाहिये। गरम जल में पिसी हुई राई मिलाकर बालक के पैर धोकर उन्हें गरम कपड़े से ढकना भी इस रोग में लाभप्रद होता है।

कभी कभी खाते पीते समय हँसी आने, खाँसने, हँसने, बोलने, रोने से आहारी द्रव्य या मुंह में पड़ी हुई कोई चीज अन्नमार्ग में न जाकर श्वासपथ में अटक जाती है तब भी कण्ठावरोध होजाया करता है। जिस मार्ग में द्रव्य अटकता है उधर की श्वास क्रिया मन्द हो जाती है और फुफ्फुस की क्रिया बराबर नहीं होने पाती। यह कण्ठावरोध बहुत ही कष्टकर होता है क्योंकि इसका बोध और चिकित्सा दोनोंही कठिन है। जब अनुमान से किसी प्रकार का ज्ञान न हो तब तीव्र ज्योति-निरीक्षण यन्त्र (X Ray) द्वारा ही अटके हुये पदार्थ की खोज की जासकती है। इस पदार्थ को निकालने के लिये कभी कभी छींक कारगर हो जाती है। इस लिये बालक को खटोले पर सीधा

लिटाकर मस्तक को नीचे की ओर लटका देना चाहिये, जिससे नासापुट ऊपर आकाश की तरफ हो जाँय। तब सुंघनी या कोई भी तीव्र नस्य देकर छींक दिलाना चाहिये। इससे कभी कभी अर्थ सिद्ध हो जाता है। इससे भी काम न निकले और यह निश्चय हो कि वास्तव में श्वास-नलिका में कोई बाहरी पदार्थ ही अटका है तो होशियार शल्य चिकित्सक द्वारा शस्त्रक्रिया कराना ही लाभप्रद होता है। और कोई गति नहीं।

कासश्वास।

खाँसी और दमा निदान में बहुत कुछ समता रखते हैं। जिन कारणों से, जिस स्थल में, जिस प्रकार खाँसी होती या जोर पकड़ती है लगभग उसी प्रकार, उसी स्थल में, उन्हीं कारणों से श्वास रोग आरंभ होता है। इन दोनों की चिकित्सा भी इसी कारण मिलती जुलती सी होती है।

खाँसी और दमा दोनों ही फुप्फुस से संबंध रखने वाले कफउनली के विकार हैं। इन रोगों में फुप्फुस, कण्ठ (श्वास-) नलिका, फुप्फुसावरण कला आदि में विकार होता है। गरद, गुब्बार, धुआँ, ठण्ढ, जुकाम, आहारविकार, आदि से इनकी उत्पत्ति होती है। आरम्भ में ये रोग साधारण मालूम होते हैं, फिर बढ़ते बढ़ते प्राणघातक तक हो जाते हैं।

सूखी खाँसी-ठसके से आती है, श्वास जल्दी जल्दी चलने

लगता है, भूख नहीं लगती, कब्ज होजाता है। बालक बलग़म थूकना नहीं जानते इससे बलग़म न निकलने के कारण उसके छाती में जम जाने से भी रोग जोर पकड़ता है। रोग के आरम्भ में केवल फुफ्फुस की श्लैष्मिक कला विकृत होती है। ऐसी दशा में आकर्णन यंत्र से सुना जाय तो वहाँ से साँय साँय का शब्द सुनने में आता है। श्वास की गति जब बढ़ जाती है तब कण्ठ अधिक सूखता है और जिह्वा सफेद रङ्ग की होकर उसपर काँटे पड़ने लगते हैं। गले में दर्द पैदा होकर कभी कभी छाती दूखने लगती है। ज्वर हो जाता है तो कभी कभी प्रलाप भी हो जाता है।

इस रोग की चिकित्सा करते समय इन बातों पर जरूर ध्यान रखना चाहिये।

१-छाती खुली न रहे।

२-बालक को घेर घोटकर गंदी जगह में न रक्खा जाय।

३-शुद्ध वायु आने का मकान में जरूर प्रबन्ध रहे।

४-बालक को घबरवाना या बार बार उथल पुथल कर तङ्ग करना ठीक नहीं। अलग छोटे खटोले पर रखना विशेष अच्छा है।

५-अताइयों की अनाप शनाप दवा न दी जाय, क्योंकि कभी कभी सरदी लगकर जो कास श्वास होते हैं पीछे वे भय-

दूर होकर बालक की जान के ग्राहक हो जाते हैं। इस बातको भलाई नहीं समझ सकते।

चिकित्सा के आरम्भ में कुछ विरेचक औषधि देना उचित है। इससे दो फायदे हैं। एक तो कोष्ठ शुद्ध होता है, दूसरे वायु की अनुलोम गति होने से श्वास भी दबता है। जब तक ज्वर रहे—दूध, साबूदाना, पतला जौ का दलिया अथवा हरीरा देना चाहिये, सो भी थोड़ी मात्रा में और समझ बूझकर। छाती पर अलसी की गरम पुलटिस का रखना या सेंक करना भी आवश्यक है। पर, इस बातका खयाल रहे कि पुलटिस अधिक गरम न हो और बालक उस सह सके।

औषधियों में—तालीसाद्य, सितोपलादि, मरिचादि वटिका, एलादि वटिका, लोकनाथ रस, चन्द्रामृत रस, कुमुदेश्वररस, लक्ष्मीविलास रस, कट्फल चूर्ण, रुद्रसूत, प्रवालभस्म, अभ्रभस्म, कल्पतरु रस, यवक्षार आदि जो उचित समझ पड़े, दिया जाय।

कर्कोटक (न्यूमोनिया)।

अधिक सर्दी लगकर फुप्फुस बिगड़ जाने पर यह रोग पैदा होता है। आरम्भ में इसमें साधारण ज्वर ज्यादा होते हैं। यह आनपर श्वास प्रश्वास अधिक तीव्र होजाते हैं, तब कफ बड़ी मुश्किल से बाहर आता है। कफ बहुत खांसी होकर बाहर आता है और उसका परिणाम नहीं होता। पश्चात कुछ

रक्त आता है। रक्त के साथ फेन आता है। खाँसते समय बालक का मुखमण्डल तमतमा उठता है। ज्वर १०५ डिग्री तक होजाता है। छाती में वंसी सी बजती रहती है। दिनसे रात्रि में रोग अधिक जोर पकडता है। बालक इससे बेचैन होजाता है और प्रलाप भी करने लगता है। पेशाब कुछ गाढा और लाल रङ्ग का थोडा सा होता है। श्वास की गति एक मिनिट में ६० से ८० तक और नाडी की गति १५० से १६० तक हो जाती है। छाती में श्वास छोडते समय बुल्ले फूटने का शब्द होता है।

यह रोग सन्निपात का साथी है। उग्र होनेपर बालक का बचना असम्भव हो जाता है। इस रोग में कास श्वास की औषधियाँ देने से ही लाभ होता है। पर यह ध्यान रखना चाहिये कि कफ का परिपाक ठीक ठीक होता रहे, वह सूख न जाय। शीत या रात्रि के समय कस्तूरी और सूतशेखर का प्रयोग किया जा सकता है। इसी रोग के साथ बालकों के पँसुली का आरम्भ भी होते देखा गया है। औषधियों में-लोकनाथ रस, लक्ष्मीविलास रस, अभ्र, यवक्षार, कट्फल-चूर्ण, प्रवालभस्म, द्राक्षासव, वासारिष्ट, कनकासव, लौहभस्म आदि का प्रयोग करना चाहिये।

पँसुली।

अधिक कफविशिष्ट दूध पीने या मीठा पदार्थ खाने अ

क्रूर होकर बालक की जान के गाहक हो जाते हैं। इस बातको अताई नहीं समझ सकते।

चिकित्सा,के आरम्भ में कुछ विरेचक औषधि देना उचित है। इससे दो फायदे हैं। एक तो कोष्ठ शुद्ध होता है, दूसरे वायु की अनुलोम गति होने से श्वास भी दबता है। जब तक ज्वर रहे-दूध, सागूदाना, पतला जौ का दलिया अथवा हरीरा देना चाहिये, सो भी थोड़ी मात्रा में और समझ बूझकर। छाती पर अलसी की गरम पुलटिस का रखना या सेंक करना भी आवश्यक है। पर, इस बातका ख्याल रहे कि पुलटिस अधिक गरम न हो और बालक उसे सह सके।

औषधियों में-तालीसाद्य, सितोपलादि, मरिचादि वटिका, एलादि वटिका, लोकनाथ रस, चन्द्रामृत रस, कुमुदेश्वररस, लक्ष्मीविलास रस, कट्फल चूर्ण, रुद्रेसूस, प्रवालभस्म, अभ्रभस्म, कल्पतरु रस, यवक्षार आदि जो उचित समझ पड़े; दिया जाय।

कर्कोटक (न्यूमोनिया)।

अधिक सर्दी लगकर फुप्फुस बिगड़ जाने पर यह रोग पैदा होता है। आरम्भ में इसमें साधारण कास श्वास होते हैं। बढ़ जानपर कास श्वास अधिक तीव्र होजाते हैं, तब कफ बड़ी मुशकिल से तरी पाता है। कफ बहुत लसीला होने से चपक जाता है और उसका परिपाक नहीं होता। कफ में कुछ

रक आता है। रक्त के साथ फेन आता है। खाँसते समय बालक का मुखमण्डल तमतमा उठता है। ज्वर १०५ डिग्री तक होजाता है। छाती में वंसी सी बजती रहती है। दिनसे रात्रि में रोग अधिक ज़ोर पकड़ता है। बालक इससे बेचैन होजाता है और प्रलाप भी करने लगता है। पेशाब कुछ गाढ़ा और लाल रङ्ग का थोड़ा सा होता है। श्वास की गति एक मिनिट में ६० से ८० तक और नाड़ी की गति १५० से १६० तक हो जाती है। छाती में श्वास छोड़ते समय बुल्ले फूटने का शब्द होता है।

यह रोग सन्निपात का साथी है। उग्र होनेपर बालक का बचना असंभव हो जाता है। इस रोग में कास श्वास की औषधियाँ देने से ही लाभ होता है। पर यह ध्यान रखना चाहिये कि कफ का परिपाक ठीक ठीक होता रहे, वह सूख न जाय। शीत या रात्रि के समय कस्तूरी और सूतशेखर का प्रयोग किया जा सकता है। इसी रोग के साथ बालकों के पँसुली का आरम्भ भी होते देखा गया है। औषधियों में-लोकनाथ रस, लक्ष्मीविलास रस, अभ्र, यवक्षार, कट्फल-चूर्ण, प्रवालभस्म, द्राक्षासव, वासारिष्ट, कनकासव, लौहभस्म आदि का प्रयोग करना चाहिये।

पँसुली।

अधिक कफविशिष्ट दूध पीने या मीठा पदार्थ खाने अ-

थवा सर्दी लग जाने से फुप्फुस का कफ जमकर पँसुली रोग पैदा कर देता है। कभी कभी तो बालक के कुपथ्य न होनेपर, माता के इन्हीं कुपथ्यों से भी पसुली रोग की प्रवृत्ति होजाती है। इसमें खाँसी की विशेषता नहीं होती, न मुह तमतमाता है, पर श्वासरोध विशेष होता है। श्वास का खिचाव अधिक होने के कारण उदर-प्राचीर खिंचने से पँसुलियों के नीचे प्लीहा और यकृत् की जगह गड्ढे पडने लगते हैं। कभी कभी ज्वर नहीं होता, पर कभी १०० से १०५ तक ज्वर होजाता है।

इसमें कफनाशक, फुप्फुसशोधक, वमन से कफ और विरेचन से मल शुद्ध करने वाली ओषधि देनी चाहिये। भुना सुहागा, कट्फलचूर्ण, यवक्षार, प्रवाल भस्म, शङ्खभस्म, लोकनाथ रस, कस्तूरी, अभ्रभस्म, मीठी वच, आदि का प्रयोग करना अच्छा है। छाती और पँसुली पर पुराने घी और सेंधा नमक की मालिस से भी लाभ होता है। इस रोग में पेट का अफारा होना और श्वास का विशेष रुकना असाध्यता का लक्षण होता है।

फुप्फुसकला—विकार।

दोनों फेफडों की रक्षा या उसमें तरी रखने के लिये ऊपर से एक श्लैष्मिक कला (झिल्ली) लपटी रहती है। उसपर चोट लगने, सरदी लग जाने या कोई भी फुप्फुस विकार या रक्त दोष होजाने से इसमें भी प्रायः रोग होजाते हैं। इस कला

के विकृत होने से प्राय कर्कोटक से मिलते जुलते ही लक्षण होते हैं। आरभ में प्रात काल मामूली श्वास-कष्ट मालूम होता है, सायङ्काल उसमें वृद्धि होती है। फिर सिरमें दर्द, ठण्ड लगना, ज्वर की अधिकता, शीघ्रता से श्वास आना, श्वास लेते या खाँसते समय छुरी भोंकने का सा दर्द, (इस दर्द से पीडित बालक दर्द वाली पँसुली की तरफ सो नहीं सकता) कब्ज, नाडी द्रुतगामिनी, शरीर गरम, पेशाब लाल और थोडा होता है।

आकर्णन-यन्त्र से सुनने पर ऐसा शब्द सुनाई पडता है जैसे कोई भारी चीज घिसी जाती हो। पर कभी कभी मध्य में यह शब्द रुक भी जाता है। इस रोग को पाश्चात्य चिकित्सक ३ भागों में विभक्त करते हैं। १-जिसमें मुख से पीला लसदार पतला थूक निकले। २-जिसमें पतला मवाद मिला थूक निकले। ३-जिसमें खून आता हो। परन्तु बालकों के इस भेद का ज्ञान नहीं होने पाता, क्योंकि वे थूक नहीं पाते और जो खार निकलती भी है यह केवल गलफरों से निकलने के कारण उन लक्षणों को स्पष्ट नहीं कर सकती।

इस रोग की चिकित्सा कर्कोटक या पँसुली की तरह ही होनी चाहिये। उसी से यथेष्ट लाभ होते देखा गया है। पुराने घी में कपूर मिलाकर पीठ, छाती और पँसुली पर मालिश करके रुई के पहल या फलालेन लपेट देना चाहिये।

द्रुताक्षेप।

इस रोग को सर्व साधारण दौरे के नाम से पहिचानते हैं। दौरा इसे इस लिये कहते हैं कि यह बार बार होता है। द्रुताक्षेप इस लिये कहते हैं कि यह बिना किसी प्रकार की सूचना के बडी शीघ्रता से एकदम हो आता है। दौरा कई कारणों से हो सकता है, इसका कोई ठीक नहीं। दांत निकलते समय, अधिक तीव्र ज्वर में, पेट के कृमि रोग में, मस्तिष्क के विकारों में, रक्त विकार आदि में।

इसके होते होते बालक का मुख एकदम रङ्ग पलट जाता है। रङ्ग फीका पड जाता है, दृष्टि कुछ टेढ़ी और स्तब्ध हो जाती है। हाथ पैर खिंचते और बेहोशी आती है। पैर सीधे तनते हैं, पर, हाथ सिकुडते और मुट्ठी बँधती है। दाँतों की चोहर भर जाती है और बाज बखत दाँत किट किटाते हैं। नाडी मन्द और शिथिल गामिनी हो जाती है। उसी दशा में कभी कभी बालक का मलमूत्र भी निकल जाता है। श्वास बड़े कष्ट से, थोड़ा सा, लम्बा लिया जाता है। कुछ मिनटों में दौर का दौरा समाप्त होने से सब बातें समाप्त हो जाती हैं और बालक के शरीर-विशेषकर माथे-पर पसीना आकर वह स्वस्थ हो जाता है।

दौरा समाप्त होनेपर बालक पूर्ववत् हो जाता है। इस

रोग में और मृगी (अपस्मार) में कुछही भेद होता है। इसकी चिकित्सा करते समय दौरे के मूल कारणों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। कारणों का प्रतीकार करते हुये मृगी की चिकित्सा करने से बराबर लाभ होता है।

पाश्चात्य चिकित्सक कभी कभी इस रोग में बालक को १०० तापांश फार्नहीट गरम जल में गल पर्यंत डुबोकर सिर पर बरफ रखकर चिकित्सा करते हैं। दस्त कराने को वर्त्तिका का प्रयोग करते हैं और गुदद्वार से औषधि पहुँचाने की चेष्टा करते हैं। हमारी समझ में यह कालयापन होते होते काकतालीय न्याय से दौरा समाप्त हो जाता है और बालक स्वस्थ हो जाता है।

खिंचाव।

यह एक प्रकार का वातरोग है। इसमें बालक के हाथ पैर खिंचते हैं। हाथ की मुट्ठी कड़ी बँध जाती हैं और पैरों की अँगुली तलुओं की ओर सिकुड़ जाती हैं। पर हाथ पैर सीधे ही रहते हैं। इसमें रोगी बेहोश नहीं होता। इसके भी कभी कभी दौरे से होते हैं।

इस रोग में नारायण, माषादि, विषगर्भ या शतावरी तैल की मालिश, चिन्तामणि, चतुर्मुख, कस्तूरी-भैरव, समीरगज केसरी, योगराज गुग्गुलु आदि रसों का उपयोग लाभप्रद होता है।

अपस्मार (मृगी)।

यह रोग कभी कभी संसर्ग से भी होता है। जिन माता पिताओं को यह व्याधि रही है उनके बालक भी इससे ग्रस्त पाये गये हैं। अनेकबार ऐसा भी देखा गया है कि अपस्मार-ग्रस्त बालकों के साथ दूध पीने वाले बालक को भी हलका भारी यह रोग अवश्य हो गया है। इसका भी कोई समय नहीं, इसके प्रायः चाहे जब दौरे होते रहते हैं।

इस रोग में ठीक हृतापेक्ष के से लक्षण होते हैं, पर कुछ विशेषता भी होती है-आखें फरकना, मुंह बिचकाना, मुंह में फेना आना, हाथ पैरों का पटकना, अग्नि, जल देखकर वेग का होना इसमें विशेषता है। दौरा समाप्त होनेपर, इसमें भी स्वस्थता आ जाती है।

इसके मूल कारणों में पूर्व-जन्मार्जित पापों के अतिरिक्त कभी कभी वेही कारण देखे जाते हैं जो हृतापेक्ष में हम लिख आये हैं। इस रोग की चिकित्सा में-महा चैतस घृत, ब्राम्ही घृत चतुर्मुख रस, चिन्तामणि रस, वचा, शङ्खपुष्पी, सारस्वतारिष्ट, विश्वाद्य चूर्ण, सारस्वत चूर्ण आदि का उपयोग करना चाहिये।

पथ्य में बासी अन्न या दूध कभी न देना चाहिये। सदैव

मलमूत्र-शुद्धि भी अच्छे प्रकार करनी चाहिये। इसकी चिकित्सा कई मास तक अच्छे चिकित्सक द्वारा होनी चाहिये।

अपतन्त्रक (हिष्टीरिया)।

इस रोग में बालक कभी हँसता है या कभी रोता है, प्रलाप भी होता है, कभी कभी बेहोशी आजाती है और कुन्हाने लगता है। कभी कभी भय खाता है और चिल्लाता है। यूनानी और पाश्चात्य चिकित्सकों (डाक्टरों) का मत था कि यह रोग केवल गर्भाशय की खराबी से ही पैदा होता है, इस लिये यह स्त्रियों खासकर विधवाओं, युवतियों और प्रसूताओं को होता है। पर क्रमशः उनकी यह धारणा नष्ट होने लगी है। वे अब यहाँ तक मानने लगे हैं, कि यह रोग पुरुषों और १९ वर्ष के बालकों को भी होता है। पर कुछ भी हो, हम इस रोग को वातजन्य मानते हैं, इससे हमारे मन्तव्यानुसार यह सब को होता है।

बड़े बालक यह बता सकते हैं कि इस रोग में पेट से हृदय और कण्ठ तक गोला सा कुछ जाता है, जो अंत में कण्ठ रोककर श्वास बना देता है, तब ये लक्षण होते हैं।

इस रोग में लक्ष्मीविलास रस, चतुर्मुख रस, चिंतामणि रस, वसन्त कुसुमाकर रस खिलाना और नारायण, चन्दनादि, शतावरी तैल का मर्दन करना और चैतन्य लाने के लिये नौ-

सादर और चूने की गंध सुघाना लाभप्रद होता है। आहार पौष्टिक, सुपाच्य और दिलको ताकत देने वाला होना चाहिये।

निशाभीति ।

अनेक मानसिक कारणों, अच्छी प्रकार निद्रा न आने, अभिभावकों द्वारा रात दिन भय दिखाने, पाचनक्रिया बिगड़ने, या हृदय के कमजोर होने से बालक रातको डरा करते हैं। इस रोगमें बालक सोते समय सुख से सोते हैं, पर रातको किसी समय भी एकाएक डरे हुये से चीख उठते हैं और इतने भयग्रस्त हो जाते हैं कि उस समय माता पिता के धैर्य देने पर भी रोते नहीं रुकते।

इस रोग में हृदय को बल देने, बालक को ढाढस देकर निडर बनाने, गहरी नींद लाने और भय के कारणों को दूर कर देने से ही रोग दूर होता है। औषधियों में मुक्ता, शुक्ति प्रवाल, चाँदी सोने के वर्क और कस्तूरी आदि का प्रयोग करना चाहिये। इनसे बालक का हृदय बलवान होता है।

ताण्डव-वात ।

यह एक प्रकार का वातरोग है। आरम्भ में बालकों का स्वभाव चिड़ चिड़ा हो जाता है। पीछे इसके एढ़ी से चोटी तक के अङ्ग स्वयं फड़कते रहते हैं। इसका भी प्राय दौरा सा होता है। कभी कभी ये लक्षण जोर पकड़ते हैं, पर कभी हलके होते हैं।

इसकी चिकित्सा में नारायण, माषादि, शतावरी, प्रसारणी, विषगर्भ, महामाषादि वा चन्दनादि तैल का मर्दन होना चाहिये। औषधियों में एकाङ्गवीर, लशुनादि वटी, चिंतामणि, चतुर्मुख रस का प्रयोग होना चाहिये। अधिक उग्र औषधियों का प्रयोग न कर कुपथ्य का परिहार बहुत ध्यान पूर्वक करना चाहिये।

जड़ता।

कुछ बालक बुद्धि के इतने ठस होते हैं कि उन्हें लाख इशारे से बातें समझाई सिखाई जाँय, पर व कुछ नहीं समझते सीखते। इनकी स्मरण-शक्ति भी बिलकुल निकम्मी होती है। थोड़ी देर पहिले की सिखाई बात भी उन्हें याद नहीं रहती।

इसी प्रकार कुछ बालक ऐसे गुमसुम रहते हैं कि उनको सुनने और करने का काम पहाड़ मालूम होता है। वे मुलायम बातों पर ध्यान नहीं देते पर कड़ी बातों पर बहुत रुष्ट हो जाते हैं।

ऐसे बालकों की शव-परीक्षा से ज्ञात हुआ है कि उनका मस्तिष्क ही ऐसे बेढङ्गे तौर से छोटा, सङ्कुचित, मोटी झिल्ली का और तन्तुविहीन सा होता है जैसा अन्य साधारण मनुष्यों में भी नहीं मिलता। सम्भव है कि वे इसी कारण ऐसे विचित्र रोग-ग्रस्त होजाते हों। ऐसे रोगियों की सामयिक चिकित्सा

सहज नहीं। स्वर्ण-घटित सारस्वतारिष्ट, ब्राम्हीघृत और शुद्ध मुक्ता भस्म मास तक खिलाने और बातों का अभ्यास कराने से जड़ता में कुछ लाभ होता है।

पक्षाघात।

पक्षाघात का अर्थ है शरीर के किसी भी एक बाजू का नष्ट होना। इस रोग में मुह का आधा हिस्सा, एक हाथ, एक पैर या एक तरफ के दोनों हाथ पैर निकम्मे हो जाते हैं। जिस भाग में पक्षाघात हो जाता है वह भाग अकर्मण्य, अचेतन हो जाता है। यदि मुह में हुआ तो मुह टेढ़ा, आँख टेढी, जबड़ा टेढ़ा रहता है। इससे न मुह ठीक बन्द होता है न आँखें। हाथ पैर में हुआ तो वे सूख जाते हैं और इनसे चलना फिरना या काम करना नहीं होता। रोगी पैर के बल खड़ा नहीं हो सकता या मुश्किल से ही खड़ा हो सकता है, हाथ पैर झूलने लगते हैं।

आरम्भ में इस रोग में बालक कष्ट से रोता है। रोने की आवाज फटी और दीनता लिये होती है। फिर किसी अङ्ग के रोगग्रस्त होने के साफ साफ लक्षण प्रगट हो जाते हैं। जिस पक्षाघात में चुटकी काटने से रोगी को दर्द न मालूम हो यह मुश्किल से ही आराम होता है। आराम होने पर इस रोग का कोई न कोई कुलक्षण रह ही जाता है। इस रोग का कभी कभी दौरा भी होता है।

चिकारना, चैतन्य-लोप, अज्ञानावस्थामें मलमूत्र-त्याग।

२-मस्तिष्क की खाली गुहाओं में जल-सञ्चय होने से ये लक्षण पाये जाते हैं। बालक अस्थिर, क्षुधालोप, ज्वर, शिरः-पीड़ा, शिर घूमना, प्रलाप, निद्रा-नाश, नसों का फड़कना, ऐंठना।

३-मस्तिष्क के तन्तु टूटने से जब रक्तस्राव होने लगता है तब ये लक्षण होते हैं। मस्तक का भारीपन, शिर-दर्द, चक्कर आना, तन्द्रा, चैतन्य-लोप।

४-मस्तिष्क की धमनियाँ रक्त-पूर्ण होनेपर ये लक्षण होतेहैं। कब्ज, ज्वर, मस्तक का अधिक गरम होना, शिर-दर्द, चिड़चिड़ापन, तेज चमकीली चीजें न देख सकना, अ-निद्रा, दाँत किटकिटाना, नाड़ी की अधीरता। अथवा-आलस्य, तन्द्रा, मुखमण्डल में कालापन, शिर दर्द इत्यादि पूर्व लक्षण।

५-मस्तिष्क में रक्त की कमी होनेपर ये लक्षण होते हैं। मुख पर पीलापन, माथा पटकना, आँखें उलटना, हाथ पैरों में खिंचाव, द्रुतालोप, नाड़ी क्षीण, श्वास प्रश्वास की अधिकता, शरीर ठण्डा।

६-मस्तिष्क में अर्बुद (गाँठ) पैदा होनेपर ये लक्षण पैदा होते हैं। मस्तिष्क के पिछले भाग में पीड़ा, बेचैनी, वमन,

20738

शोथ, दृष्टि-मान्द्य, पैरों का लड़खड़ाना, आँखें बलटना इत्यादि।

७-मस्तिष्क और पृष्ठ वंश के सुषुम्नाकांड का बहुत कुछ अभिन्न सम्बन्ध है, इससे उसमें विकार होने से भी इसी से मिलते जुलते लक्षण वाले अनेक रोग जिनमें कई प्रकार के पक्षाघात भी शामिल हैं कभी कभी हो जाया करते हैं। ये सब असाध्य होते हैं।

मूत्र-विकार।

बहुत छोटे बालकों का आहार दुग्ध होता है। दूध में जलीय अंश अधिक होने से उनके आहार का अधिक भाग मूत्र बन जाता है। पहिले यह रङ्गमें सफ़ेद,और निर्गन्ध होता है, उस में क्षार अंश बहुत कम रहता है। फिर शनैः शनैः बढ़ता है। दो वर्ष के बालक का मूत्र शरीर तौल के मुकाबिले में जितना हो सकता है छोटी उम्र के बालक का पेशाब उसका शरीर भार देखते कहीं अधिक होता है। पर ज्यों ज्यों उम्र बढ़ती है त्यों त्यों शरीर भार की अपेक्षा मूत्रका वजन कम होता चला जाता है। यदि ६ मास के बालक का मूत्र इकट्ठा किया जाय तो एक अहोरात्र में ८-६ छटांक होता है। पर दो वर्ष तक के बालक के मूत्र का परिमाण औसतन छः छटाँक होगा। ऋतु-विशेष या आहार-विशेष। ऋतुविशेष या आहारविशेष से यह परिमाण घट बढ़ भी सकता है।

है। बुखार में मूत्र की मात्रा घट जाती है। बालकपन में मूत्र का गुरुत्व बड़े आदमी के मूत्र के गुरुत्व से कुछ अधिक होता है। कभी-कभी गुरुत्व १०३० से १०७५ तक या इस से भी अधिक पाया जाता है। छोटी उम्र में कभी, कभी बालकों के पेशाब में क्षारके कण या लुआब सा भी आजाता है। परं मातें जब तक अधिक परिमाण म न हों तब तक रोग-गाद में नहीं आतीं।

पेशाब मात्रा से अधिक होता हो तो वसन्तकुसुम रस, कुसुम थोड़ी मात्रा से, शहद या माता के दूध के पदाना चाहिये। और विकार हों तो आगे के लक्षणों के दूसरे उपायों का अवलम्बन करना चाहिये।

रक्त-मूत्र।

यह दो प्रकार से होता है। अत्यधिक गरम पथ्य औषधि के अभाव से अथवा मूत्राशय या मूत्रेन्द्रिय के स्थान में चोट लगकर रस के मिल जाने से। जिसमें मिलकर सुर्खी आती है सूक्ष्म दर्शकयन्त्र के निरीक्षण से उ रस कण मिलते हैं। दूसरे में केवल वर्ण होता है। पर द की चिकित्सा मिलती जुलती होती है।

- ऐसी दशा में उपाय, धनिया, आमलकी, यवक्षार, शुक्ति, शुद्ध प्रवाल, मौक्तिक, धात्री रसायन का प्रयोग क

चाहिये। आहार में भी अधिकांश, दूध और सौम्य चीजें ही देना चाहिये।

मूत्रस्तम्भ।

कभी कभी साधारण कारणों से भी बालकों को साधारण मूत्रस्तम्भ हो जाता है। ऐसा हो तो उन कारणों को दूर करके बालक के तल पेटपर नाभि के नीचे और नलोंपर—गरम पानी में कपड़ा भिगोकर निचोकर वाष्प-सेक करना चाहिये। अथवा—मूसे की मींगन, सफेदजीरा, जवाखार, धनिया पानी में पीस कर पकाकर हलका गरम लेप करना चाहिये। इससे मूत्रस्तम्भ दूर हो जाता है।

पूयमूत्र।

वस्तिस्थान में किसी प्रकार का व्रण, मूत्राश्मरी द्वारा व्रण हो जाने, गुर्दे के विकार अथवा मूत्रनलिका में घाव हो जाने से पेशाब में मवाद आया करती है। इसी प्रकार इन कारणों और योनि दोष या भीतर की बच्चेदानी के दोष से बालिकाओं का मूत्र पूययुक्त आता है।

यह दो प्रकार का होता है। एक में केवल पेशाब के वक्त पीड़ा होती है, पेशाब बूंद बूंद उतरता है और म्वाद आता है। दूसरे में ज्वर, ग्लानि, शरीरपीड़ा और बेचैनी रहती है।

चिकित्सा के समय इन दोनों प्रकारों पर ध्यान रखना

चाहिये । ज्वरादि उपद्रव हों तो इनकी दवा भी साथ ही साथ करनी चाहिये । इस रोग में गोखुर, घिरोजा, रेशाखतमी, धनिया, शतावरी, चदन आदि से बनी हुई कोई दवा अथवा बसंतकुसुमाकर, चंदनासव, षडाष्टक, कदलीकन्द घृत और च्यवनप्राश अवलेह का सेवन कराना चाहिये । मूत्र-नलिका का विकार हो तो पिचकारी द्वारा दिन में दो बार जननेन्द्रिय धोते रहना चाहिये ।

लसीकास्राव और चूर्णमेह ।

आहार-दोष या किसी प्रकार के मूत्र-विकार की परिस्थिति के कारण बालकों को पेशाब में चिकनाहट, तार देने वाला लुआब या चूना-खड़िया-सा सफेद पदार्थ आने लगता है । इन रोगों में मूल कारणों का प्रतीकार करते हुये 'पूयमूत्र' में लिखी हुई औषधियाँ देना चाहिये ।

मूत्रोदर ।

पेट के दोनों कोखों में दो गुर्दे-मूत्र (पिण्ड) यन्त्र रहते हैं । इनसे मूत्र बनकर और छनकर नलियों द्वारा बस्तिस्थान में इकट्ठा होता है और वहाँ इकट्ठा होकर बाहिर गिरता है । कभी कभी मूत्राश्मरी हो जाने से मूत्र रुक जाता है और रुक कर नलियों में भर जाता है । ज्यों ज्यों रुकता है त्यों त्यों नली मसक की तरह हो जाती है । तब ऊपर भी सूजन और उभार

साफ प्रतीत होने लगती है। इसे मूत्रोदर कहते हैं। दोनों मे-लियों में से जौन सी नली रुकती है उसी ओर यह विकार होता है। दूसरी ओर से बराबर काम जारी रहता है और थोडा थोडा मूत्र आता है। इसका एकमात्र यही उपाय है कि मूत्राश्मरी औषधि या शस्त्र चिकित्सा द्वारा दूर की जाय। कभी कभी तो दैवात् मूत्राश्मरी मार्ग से हटने पर स्वयं खुल कर मूत्र हो जाता है और यह मूत्रोदर शांत हो जाता है।

नेन्द्रिय धोने और उन्हें साफ रखने की बहुत कम कोशिश किया करती हैं। इससे बालक को प्रायः जननेन्द्रिय के अनेक साधारण रोग पैदा हो जाते हैं। कभी कभी तो उपेक्षा करने से उनकी जड़ कहीं की कहीं पहुँच जाती है। उपदंश-ग्रस्त माता पिता की संतानों को भी इस प्रकार के कष्ट कभी कभी सहन करने पड़ते हैं। इस उपेक्षा से जननेन्द्रिय का मुख और इधर उधर का चर्म गीला, गला हुआ, सुर्ख, सफेद मवाद देने वाला होजाता है। कभी कभी उसी से बड़ा घाव होजाता है और बालक दुःख उठाता है।

ऐसी दशा में प्रतिदिन त्रिफला के काढ़े से या नीम के पानी से दोनों समय धोकर सिंदूरादि लेप लगाना चाहिये। साधारणतः यह उपाय सर्वश्रेष्ठ है। जब रोग आरोग्य हो जाय तब भी एक बार प्रतिदिन जननेन्द्रिय धोते ही रहना चाहिये।

तो जायफल और केशर को पानी में घिस कर लेप करना चाहिये।

नेत्ररोग।

प्रायः गरमी के कारण और कभी कभी सरदी से नेत्र दुखने आते हैं, इनसे आँखें सुर्ख, कड़कड़ाने वाली और आँसू से तर रहती हैं। जैसा कारण हो वैसी चिकित्सा होनी चाहिये। अफीम और छोटी हर्र को पानी में घिसकर आँख के चौतर्फा (भौं और आँख के कोये तथा नीचे का कुछ भाग बचाकर) लेप कर देना चाहिये जिसमें दवा आँख के अन्दर न जाय। अथवा—जस्ते की भस्म (सफेदा) औरकडुये तेल का काजल बराबर भाग मिलाकर आँखों में डालना चाहिये।

बालकों के नेत्रों में कभी कभी रोहे पड़ जाते हैं। ये एक प्रकारके अङ्कुर होते हैं औरपलकों केभीतरीओर उठते हैं, जो अक्षिगोलक से रगड़ खा खाकर पीड़ा पैदा करते हैं। इनसे सूजन भी होजाती है। ऐसा हो तो चाकसू के बीजोंका अर्क और जस्ते का सफेदा, भुनी हुई फिटकरी मिलाकर डालना फायदा करता है। जस्ते के सफेदे में ३२ वाँ भाग भुनी फिटकरी मिलानी चाहिये।

और भी अनेक नेत्ररोग होते हैं, पर इस छोटीसी पुस्तक में उनका वर्णन होना असम्भव है।

कभी कभी पामा रोग भी हो जाता है जो हाथों पैरों की उङ्गलियों या गुदा के पास त्रिक से जन्म लेकर अन्यत्र भी फैल जाता है।

तर खुजली में लगाने के लिये पामाविनाशन लेप, तालाद्य लेप या पारदाद्य लेप घी में मिलाकर लगाना चाहिये। खुजली के स्थल को दो बार नीम के काढ़े से धोना चाहिये। सूखी खुजली में मरिचाद्य तैल, लालमिर्च का तैल या नारायण तैल में नींबू का रस मिलाकर मर्दन करना चाहिये।

पीने के लिये खदिरारिष्ट, अर्क उशवा, शहद पानी आदि दे सकते हैं।

दाद।

यह प्रसिद्ध रोग है। बालकों को यह कभी हो जाता है। इसपर रेवाचीनी, पारा, गधक, सुहागा, कत्था बराबर लेकर बारीक पीसना और घी मिलाकर लगाना।

छाले।

रक्तदोष, माता पिता के उपदंशदोष या किसी प्रकार की चिर्पर्ली चीज के ससर्ग से बालकों के बदन में छाले पड़ जाते हैं। ये छाले सुर्ख और सफेद रङ्ग के होते हैं। इनका चमड़ा १२ दिन में ही गलकर घाव सा हो जाता है। जिसमें बराबर तरी बनी रहती है।

इन छालों को झड़बेरी और त्रिफला के काढ़े से धोकर सिंदूराद्य लेप लगाना चाहिये। यदि नींव के पानी से धोया जाय तबभी अच्छा है। दाद, पामा, छाले और फोड़े, फुंसियों में वस्त्रों की सफाई अवश्य रहनी चाहिये।

फोड़े, फुन्सी।

बहुत बार रक्तदोष या चर्मदोषसे बालकों के फोड़े फुंसियाँ हो जाया करती हैं। ऐसे समय रोग के मूल का अन्वेषण करके चिकित्सा करनी चाहिये।

इस रोग में मरिचाद्य तैल, उमा तैल, सिंदूराद्य तैल, त्रिफलातैल आदि तेलों की मालिश और सिंदूराद्य लेप, त्रिफला भस्म आदि का लेप करना चाहिये। रोग विशेष दिन का हो तो रक्तशोधक औषधि भी पिलाना चाहिये।

चर्मदोष।

कभी कभी प्रबल रक्त-दोष के कारण त्वचा कठोर, रूक्ष और मोटी पड़ जाती है। ऐसी दशा में गजचर्म होजाता है। पर यह कभी ही होता है। इस रोगमें चर्म को मुलायम करने के उपाय करना ही ठीक है।

पाश्चात्य देशों में ये शस्त्रक्रिया से सिद्ध किये जाते हैं क्योंकि वहाँ इनका शरीर में रहना बदसूरती में दाखिल है और भारतीय इसकी चिकित्सा यों नहीं करते कि उन्हें इससे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

अर्बुद।

यह भी बालकों के कभी कभी हो जाता है। इस रोग में चमड़े के नीचे मांस बढ़कर गाँठ सी हो जाती है। आरम्भ में इसमें कुछ भी दर्द नहीं होता। यह शरीर में कहीं भी हो सकता है। गलगण्ड के रूप में यह रोग देश विशेष के कारण भी हो जाया करता है।

इसकी चिकित्सा शस्त्रोपचार ही ठीक है। शस्त्र-क्रिया के बिना इसका ठीक आराम होना असम्भव है।

" समासात्सर्वरोगाणामेतद्बालेषु भेषजम्।
निर्दिष्टं शास्त्रविद्वैद्यः मविविच्य प्रयोजयेत् ॥"

आचरक ॥

चिकित्सक-ग्रन्थमाला की

उत्तमोत्तम पुस्तकें।

इस पुस्तकमाला में हमने वैद्यों, परीक्षा देने वालों और सर्वसाधारण के मनन करने योग्य पुस्तकों को निकालना आरम्भ किया है। इसमें ऐसे विषयों की पुस्तकें छपती हैं जिनको एक दूसरे को बताता नहीं। ये पुस्तकें वैद्यक के विद्यार्थियों को पूरा सहारा देती हैं। वैद्यों का इन पुस्तकों से पूरा ज्ञान पैदा होता है। सर्वसाधारण इनको पढ़कर अपने घरकी बहुत सी रोग पीडाओं से स्वय बचा सकते हैं।

गृहवस्तुचिकित्सा।

इसमें लिखी हुई चिकित्सा के लिये घर से बाहर जाने या दवा दुरुस्त खरीदने की जरूरत नहीं। भाषा ऐसी सरल है कि औरतें भी इसे पढ़कर काम चला सकती हैं मूल्य ॥)

सरल चिकित्सा।

इसमें हमने अपने २० वर्ष के तजुर्बे किये हुये १५० अचूक नुसखे लिखे हैं, जो कभी निष्फल नहीं जाते, चाहे जब आजमा देखिये। वैद्य और गृहस्थ सबके काम की चीज है। मूल्य ॥)

क्षयादर्श।

इस पुस्तक में क्षयी, तपेदिक, जीर्णज्वर का कुल हाल और उसकी चिकित्सा लिखी है। भारत में दिनपर दिन इस रोग की वृद्धि होती जाती है। इससे इस रोग की जानकारी रखना चाहिये। मूल्य ॥=)

आयुर्विज्ञान ।

इसमें रोगी के साध्यासाध्य लक्षणों का रत्ती रत्ती हाल लिखा है। यह रोगों के कालज्ञान की कुञ्जी है। रोगी के मरने जीने का हाल इससे जाना जाता है। मूल्य ।)

मकरध्वज (चंद्रोदय) ।

इसमें यह बताया गया है कि मकरध्वज या चंद्रोदय किन चीजों से और कैसे बनाया जाता है। मूल्य ≡)

प्रमेह–भास्कर ।

इसमें वर्तमान समय के २१ प्रमेहों के सब कारण, लक्षण और चिकित्सा सही सही लिख दी गई है। प्रत्येक मनुष्य के पढ़ने योग्य है। मूल्य =)

औपसर्गिक सन्निपात ।

प्लेगका कुल हाल, उससे बचने के उपाय और आयुर्वेदकी रीति से उसकी चिकित्सा लिखी गई है। न मालूम कब काम पड़जाय। यह पुस्तक प्रत्येक गृहस्थ को घर में रखनी चाहिये। मूल्य ।)

रक्त ।

इसमें खून के बारे में पूरा हाल लिखा है। खून ही मनुष्य जीवन है। यह कैसे बनता है, कैसे बिगड़ता है इत्यादि इसमें

वेदों में वैद्यक ।

इसमें वेदों से उन मन्त्रों को ढूंढकर लिखा गया है जिनसे पता चलता है कि वेदों में भी वैद्यक का तत्त्व भरा हुआ है। मूल्य ≈)

बालबोधोदय ।

इसमें प्रत्येक रोग पर चुनी हुई दवाओं का वर्णन है। इस पर संस्कृत और भाषा टीकायें हैं। पुस्तक वैद्यों के लिये विशेष उपयुक्त है। मूल्य ।≈)

दशमूल-निबन्ध ।

हर जगह 'दशमूल' की माँग आजकल बढ़ती जा रही है। इस निबन्ध में उसी दशमूल की चीजों के १८ चित्र, वर्णन, रोगों पर देने उपायों और गुणदोषों का उल्लेख है। पुस्तक पढ़ने योग्य है। मूल्य ।≈)

इसके अलावा वैद्यों को औषधालय में रखने लायक रजिस्टर, नुसखे लिखने के लायक कागज, लेबिल, औषधियाँ आदि बनी बनाई छपी छपाई मिलती हैं।

मिलने का पता—

चिकित्सक कार्यालय—कानपुर.

अखिल भारतवर्षीय वैद्य-सम्मेलन और वैद्य-सेवासमिति से स्वर्णपदक और सार्टीफिकट प्राप्त "श्रीधन्वन्तरि-औषधालय" की अनुभूत औषधि.—

वाल रोगांतकारिष्ट अर्थात् वालामृतघुटी।

हमने इस घुटी को आयुर्वेद में वर्णित वालकों की रक्षा करने वाली सौम्य औषधियों से तैयार की है। इसके सेवन वाले निरोग वालक कभी रोगी नहीं होते किन्तु पुष्ट होजाते हैं। वालकों को वलवान बनाने की अति उत्तम औषधि है। रोगी वालकों के लिये तो संजीवनी है। इसके सेवन से वालकों के समस्त रोग जैसे ज्वर, हरे पीले दस्त, अजीर्ण, पेट का दर्द, अफरा, दस्त में कीड़ा पड़जाना, दस्त साफ न होना, सर्दी, कफ खांसी, पसली चलना, दूध का पटकना, चौंक पड़ना, और दाँत निकलने के समय के कष्ट सब नष्टहो शरीर मोटा ताजा और वलवान होजाता है। परीक्षा प्रार्थनीय है। मूल्य १ शीशी ॥=) आना।

वैद्यों के लिये—आयुर्वेदीय शास्त्रोक्त बनीहुई औषधियाँ, रसायन क्वाथ आदि स्वल्प मूल्य में भेजनेका **विशेष प्रबन्ध** किया है। हमारे यहां की औषधियां शास्त्रीय प्रक्रियानुसार विश्वासनीय बनती हैं जिनकी परीक्षा कर अखिल भारत वैद्यसम्मेलन ने स्वर्णपदक और सार्टीफिकट प्रदान किए आपसे प्रार्थना है कि शीघ्र ही कार्ड भेजकर सूचीपत्र मंगाकर अवश्य देखें

पता—वैद्य वांकेलाल गुप्त,

मनेजर—धन्वन्तरि औषधालय विजयगढ़ जि० अलीगढ़